हिन्दी का निखार तथा परिष्कार

हिन्दी का निखार तथा परिष्कार

सन् १८५७ से १९६० ई० तक

शोधकर्ता—डा० शिवप्रसाद शुक्ल

एम० ए० (हिन्दी) एम० ए० (संस्कृत) पी एच० डी०

अध्यक्ष—आधुनिक भारतीय एवं शास्त्रीय भाषा विभाग

सनातन धर्म कालेज, पलवल (हरियाणा)



विद्या प्रकाशन मन्दिर

दिल्ली-६

हिन्दी-जगत के आचार्य



यह ग्रन्थ जिन की कृपा का फल है ।

समर्पण

उपहाय न मे किञ्चिद
इति जानन् मनोमुदे
त्वदीय वस्तु गोविन्द
तुभ्यमेव समपये ।

शिव

भूमिका

मैंने कभी किसी ग्रन्थ की भूमिका नहीं लिखी है, परन्तु इस ग्रन्थ पर मेरी भी ममता है। एक तरह से इस ग्रन्थ को मैं 'अपना ग्रन्थ भी कह सकता हूँ (क्योंकि मेरे निर्देशन में इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है।) इस लिए इस के बारे में कुछ कहना अप्रासंगिक नहीं समीचीन है।

हिन्दी के पिछले सौ वर्षों का निखार-परिष्कार क्रमबद्ध इस ग्रन्थ में है। आप जानेंगे कि किसी समय (संस्कृत व्याकरण के अनुसार संधि करके) हिन्दी में लोग 'स्टेशन माष्टर' और 'मजिष्ट्रेट' जैसे विन्यास किया करते थे। हिन्दी का निखार हुआ और वह अपने प्रकृत 'स्टेशन मास्टर' जैसे रूपों में आगे चली।

उसी समय संस्कृत के कितने ही शब्द हिन्दी ने अपनी टकसाल में ढाल लिए। लाल युग में ही बहुत से शब्द ढले। स्वयं श्री लल्लू जी 'लाल' के 'प्रेमसागर' में 'सतोगुण' 'रजोगुण' 'तमोगुण' जैसे शब्द मिलेंगे। 'सतोगुण' संस्कृत शब्द नहीं है, हिन्दी की टकसाल का गढ़ा हुआ उसका अपना सिक्का है। संस्कृत में 'सतोगुण' गलत है। 'आवागमन' जैसे शब्द हिन्दी ने अपनी टकसाल में ढाले। 'आवागमन' में 'गमन' संस्कृत का है और 'आव' हिन्दी का है। हिन्दी का निखार स्वतः हुआ, और फिर आगे 'शब्द शुद्धि' के नाम पर हिन्दी में विकार बढ़ने लगा, तब उसका परिहार करके भाषा का प्रकृत रूप प्रतिपादित किया गया। यह 'परिष्कार' है।

सो, साहित्यिक हिन्दी के शतवर्षीय निखार परिष्कार का यह सुन्दर सर्वेक्षण है। हिन्दी में अपने विषय का यह पहला ही ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का प्रचार प्रसार मेरे 'हिन्दी शब्दानुशासन' से भी अधिक होगा, क्योंकि यह चीज ही ऐसी है।

इस ग्रन्थ से चि० शिवप्रसाद शुक्ल को वह यश मिलेगा, जिसके वे अधिकारी हैं। ग्रन्थ लिखने में कितना श्रम करना पड़ता है।

कनखल, (उ० प्र०)
श्रावणी पूर्णिमा
२०२६ वि०

किशोरीदास वाजपेयी

प्रारम्भिक निवेदन

विक्रमीय सवत २०२१ (सन् १९६४ ६५) के पुनीत दिन एक ऐतिहासिक महत्व रखते हैं, जब कि हिन्दी-जगत के महान् आचार्य पडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की जन्म शताब्दी देश म मनाई गई। मेरे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि ऐतिहासिक महत्व के इन्ही दिनो मे यह अधिनिबन्ध लिखा गया। और कुछ हो, चाहे न हो, परन्तु इतना सुख सताप अवश्य है कि आचार्य द्विवेदी की जन्म शताब्दी पर उन्ही के परम प्रिय विषय पर कुछ सोचने विचारने का अवसर मिला। इस तरह मेरे ये शब्द ही श्रद्धा सुमन हैं, जो आचार्य के श्री चरणो म समर्पित हैं।

आचार्य द्विवेदी ने जो नीव लगा दी थी उसी पर हिन्दी साहित्य का भव्य भवन जब खडा हो गया और उसकी साज सज्जा पूरी हो गइ, तब इस जन ने आखें खोली। सन् १९५४ में हिन्दी म और १९५६ मे सस्कृत म एम० ए० पास कर चुकने पर हिन्दी शब्द शास्त्र की ओर विशेष रुचि प्रवृत्ति अकुरित हुई। इससे पहले 'साहित्याचार्य की पढाइ करत समय और इसके बाद भी सस्कृत शब्द शास्त्र की ओर ही ध्यान केन्द्रित रहा। आचार्य वाजपेयी की लेखन कला' म शब्द शुद्धि पर एक अध्याय है। उसे पढकर ही उधर रुचि बढी। फिर वाजपेयी जी ने (इस विषय पर) जो लेख पत्र पत्रिकाओ म निकलते रहे उन्हे ढूढ ढूढकर पढ़ता रहा। इसके अनन्तर बाबू रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी प्रकाशित हुई जिस पर आचार्य वाजपेयी का परिष्कार प्रकाशित हुआ—'अच्छी हिन्दी का नमूना।' फिर वाजपेयी जी की 'अच्छी हिन्दी देखी। आगे 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' देखा हिन्दी शब्दानुशासन पढा। आचार्य द्विवेदी न अपने समय म जो काम किया था, वह सब जाना-समझा। काशी के विद्वानो ने भाषा सस्कार समिति' का निर्माण किया और 'राष्टीय' आदि की जगह राष्ट्रिय' जसे शब्दो को चलाने का प्रयत्न किया। 'राष्ट्रिय' जसे शब्द चलने भी लगे, पर आचार्य वाजपेयी ने काशी की धारा का विरोध किया और हिन्दी मे राष्ट्रीय' जस शब्दो का ही शुद्ध और टकसाली बताया। इसी तरह काशी समर्थित अन्ताराष्ट्रिय और 'अन्त प्रान्तीय' जसे प्रयोगो का प्रत्याख्यान कर के अन्तरराष्ट्रीय' अन्तर प्रान्तीय' जसे रूपो का चलन प्रचलन वाजपेयी जी न किया। मैंने इन सभी शब्दशास्त्रियो की विचार धाराओ का ध्यान से अध्ययन किया। पुराने समय की शब्द चर्चा भी पढी, जब कि हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यिक बाबू बालमुकुन्द गुप्त जसे हमारे पुरखे स्टेशन को 'टेशन तथा स्टाफ को टाफ लिखा करते थे। आचार्य द्विवेदी के मान्य साथी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद को गौरवान्वित करने वाले—

प० श्रीधर पाठक ने उसके उसको 'उसम' आदि की जगह 'उम्के' 'उम्को' 'उम्म जसे रूप चलाने का उद्योग किया था। यह मैंने 'प्रिय प्रवास की भूमिका म पढ़ा। हरिऔध' जी ने पाठक जी की धारा का विरोध किया था। कितनी मनोरजक सामग्री है। प्रदेशन और उसके जसे प्रयाग अज्ञान से नहीं, हिन्दी का शुद्ध रूप देने के लिए खूब सोच विचार कर किए गए थे। सस्कृत व्याकरण का तथा भाषा विज्ञान के ग्रन्थों का आधार लिया गया था, जब कि बहुत दिन बाद लोगों ने सस्कृत व्याकरण का आधार लेकर राष्ट्रीय' आदि की जगह राष्ट्रिय आदि रूप चलाने का प्रयत्न किया। यह सब प्रयत्न हिन्दी के भक्तो ने हिन्दी को परिष्कृत करने की भावना से किया।

इस तरह से परस्पर भिन्न विचार पढकर कुछ सोचा विचारा। ऊहापोह म ही था कि सौभाग्य से आचाय वाजपयी के निकट सम्पक म पहुचने का सुयोग मिल गया। इससे बहुत लाभ पहुचा। आग चलकर वाजपेयी जी का हिन्दी शब्दानुशासन प्रकाशित हुआ, जिसका सार है 'हिन्दी शब्द मीमासा। इनके द्वारा मुझे बहुत बल मिला। सामने हाजिर होकर भी मैंने आचाय वाजपेयी से प्रकाश प्राप्त किया।

इसके अनन्तर यह इच्छा हुई कि इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखकर छपवाया जाये जिसम पूरे पिछले सौ वर्षों का हिन्दी-रूप विचार प्रकट हो और अपने विचार भी सामने आएँ। मैंने पजाब विश्वविद्यालय से प्रायना की कि इस विषय पर 'प्रधिनिबंध (डाक्टर आफ फिलासफी के लिए) लिखने की अनुमति दी जाए। मेरी प्रार्थना स्वीकार की गई और मेरे पथ प्रदशन का काम विद्वद्वर डा० धमपाल मनी (वतमान अध्यक्ष गुरुनानक यूनीवर्सिटी अमृतसर) को सौंपा गया। मैंने अपने विषय को अब फिर से दुहराया और अपेक्षित ग्रन्थ सामग्री भी प्राप्त कर के देखी भाली। डा० मनी महोदय ने अत्यन्त स्नेह सौहाद से मेरा पथ प्रदशन किया। उनकी बताई राह पर चलकर ही मैं यहाँ तक पहुचा हूँ इसलिए उनके प्रति कृतज्ञ होना ही चाहिए। विचार विमश मे मुझे आचाय वाजपेयी से पूरी सहायता मिली है।

साहित्यिक हिन्दी के प्रथम युग का नाम लाल युग रखा है। उस युग के प्रमुख लाल कवि को लोग श्री लल्लू जी लाल नाम से जानते हैं। नाम लल्लू जी और कवि नाम 'लाल। लाल कवि ने 'बिहारी सतसई की जो टीका की है, उसका नाम भी लाल चन्द्रिका है।

सो, लाल युग भारतेन्दु युग द्विवेदी युग और विचार विश्लेषण युग' इन चार युगो की हिन्दी का रूप सर्वेक्षण इस ग्रन्थ म है।

मैंने इस अधिनिबन्ध के लिखने म जो श्रम किया है उसका कोई विशेष महत्त्व है कि नहीं, यह जानने की उत्सुकता स्वाभाविक है। कोई भी तरुण साहित्यिक अपने मन म तब तक सर्शदग्ध रहता है जब तक उसकी कृति विद्वज्जनो के द्वारा परीक्षित न हो जाए। जो कुछ भी है सामने है। चीज कसी है, यह तो कसौटी ही बता सकती है।

सनातन धम कालेज
पलवल (हरियाणा)
गुरु पूर्णिमा स २०२६ वि०

विनीत
नियप्रसाद शुक्ल

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

हमारे अधिनिबन्ध के दो तत्त्व हैं—(१) हिन्दी और (२) उसका परिष्कार। हिन्दी एक भाषा है, इसलिए सामान्यतः भाषा का तत्त्व, उसका उद्भव और विकास, भाषाओं के प्रमुख वर्ग या परिवार, उन वर्गों या परिवारों का परस्पर साम्य-असाम्य, उनमें से एक प्रमुख परिवार 'आर्यभाषाओं' का और इस परिवार की एक आधुनिक भाषा हिन्दी; इस हिन्दी की उत्पत्ति और विकास आदि बतलाकर फिर इसके परिष्कार की चर्चा करना बहुत लम्बा रास्ता है; और वह सब संक्षेप से भी लिखा जाए तो भी कम-से-कम उतने पृष्ठ चाहिए ही, जितने कि परिष्कार-चर्चा के लिए हीं अपेक्षित हैं। फिर वह सब भाषा-विज्ञान का विषय है और इस विषय के छोटे-बड़े बीसों ग्रन्थ हिन्दी में छप चुके हैं। उन ग्रन्थों से उद्धरण दे-देकर अपने इस अधिनिबन्ध को हम एक 'उद्धरण पुराण' नहीं बनाना चाहते; क्योंकि फिर हमारा मूल विवेच्य विषय पीछे पड़ जाएगा—उसे जगह ही न मिलेगी। 'गंगा की गैल में मदार के गीत' कुछ अच्छे भी नहीं लगते। यही सब सोचकर उस चर्चा का उपक्रम न करेंगे और सीधे अपने मूल विषय की ही प्रस्तावना करेंगे।

निखार, संस्कार और परिष्कार

भाषा-परिष्कार की चर्चा में ऊपर के तीन तत्त्वों को ध्यान में रखना चाहिए।

१. निखार साधारणतः स्वतः चमक या निर्मलीभाव के लिए आता है। ऊपर से गिरा स्वच्छ जल आधार-दोष से कुछ विकृत हो जाता है—मलिन आविल हो जाता है। फिर कुछ समय बाद वह निर्मल हो जाता है, विकार दब जाता है। कहते हैं—जल में निखार हो गया। बचपन के बाद जब तारुण्य का उन्मेष होता है, तो रूप में निखार हो जाता है, एक चमक आ जाती है।

२. संस्कार दूसरी चीज है। यत्न-पूर्वक किसी वस्तु में गुणान्तर सन्निविष्ट करना, या उसी गुण को और बढ़ाना 'संस्कार' है। सोना खान से निकलता है तो वह उस समय ऐसा नहीं होता, जैसा कि आपकी अँगूठी में दमक रहा है। उसमें दूसरी

चीज़ें सभी बिगड़ी होती हैं। यह सब विकार दूर करने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है। ये प्रक्रियाएँ ही संस्कार हैं।

३. परिष्कार भी एक तरह का संस्कार ही है—आगन्तुक विकार को दूर करना। कमरे में कूड़ा-करकट आ जाता है और सब बहुत भद्दा लगता है। बुहारी से यह सब साफ कर देना 'परिष्कार' है। भाषा का भी निखार, संस्कार और परिष्कार होता है।

भाषा का निखार

भाषा का भी निखार होता है। क्योंकि शुद्ध भाषा भी जनता के उच्चारण-भेद से कभी-कभी बहुत बिगड़ जाती है और यह भाग क्रमशः पुनः शुद्ध हो जाती है—उसका अपना रूप निखर उठता है।

हमारे देश हिन्द की भाषा 'हिन्दी' है जो सम्पूर्ण देश की सामान्य भाषा (राष्ट्रभाषा) है और केन्द्रीय सरकार की राजभाषा है। उसी के परिष्कार की चर्चा यहाँ होगी और उसका रूप वही होगा जो इन पंक्तियों में आप देख रहे हैं। चाहे जैसी कलात्मक कृति हो, चाहे जैसी व्याख्या लिखी जाए किसी भी शैली में की जाए, हिन्दी का रूप यही मिलेगा। शुद्ध यहाँ देखना, सामूहिकता में चाहे जो प्रकार भेद हो।

परन्तु हिन्दी का यह रूप उसकी जन्म भूमि में नहीं है—वहाँ कुछ विकार दिखाई देता है। उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिमी भाग में मुरादाबाद से पश्चिम देहरादून जिले का मदानी भाग मुजफ्फरनगर और मेरठ आदि का भू भाग किसी समय 'कुरुजनपद' कहलाता था। इससे पश्चिम का भाग 'कुरुजाङ्गल' कहलाता था जिसे आजकल हरियाना कहते हैं। हरियाना शासन की दृष्टि से कभी पंजाब में था पर भाषा यहाँ की पंजाबी नहीं है। जैसे राजस्थानी भाषा के दो भेद हैं—जयपुरी राजस्थानी और 'जोधपुरी राजस्थानी', उसी तरह 'कौरवी' भाषा के भी दो भेद हैं—मेरठी और हरियानी। इनमें से मेरठी ही हमारी राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की प्रकृति है। इस मेरठी भाषा को ही लोग 'खड़ी बोली' कहते रहे हैं क्योंकि हिन्दी संघ की यही एक भाषा ऐसी है, जिसमें खड़ी पाई पुंवर्गीय शब्दों के एक वचन में दिखाई देती है—बड़ा लड़का पढ़ता है।[1] जाड़ा पड़ता है। मीठा आम गिरा।

'हिन्दी संघ' की अन्य (राजस्थानी ब्रजभाषा, गढ़वाली, कुमायूनी पाञ्चाली अवधी भोजपुरी, मैथिली आदि) किसी भी भाषा में 'मीठा लगता है' जैसे आकारान्त पुंप्रयोग नहीं होते।

यही खड़ी बोली आगे चलकर हिन्दवी 'हिन्दी और उर्दू' के नाम रूप लेकर दूर-दूर तक समादृत हुई। परन्तु वह 'मेरठी' बोली ज्यों की त्यों हिन्दी नहीं बन गई

१ भारतीय भाषा विज्ञान—पाँचवाँ अध्याय पृ० १४७

है। 'मेरठी' निखरे हुए रूप मे 'हिन्दवी 'हिन्दी' (या उर्दू) बनी है। देहली तक पहुचते पहुचते उसमे निखार हो गया।

कुरुजनपद (मेरठी परिसर) मे बोलते हैं —

'साडा धोम्मे मे मार गया'

और राष्ट्र भाषा मे प्रयोग होता है —

'साला धोखे म मार गया

उर्दू मे भी साला ही चलता है। सो यह 'साडा' का निखार 'साला' हुआ, जिसका सम्बन्ध सस्कृत 'श्याल से है। 'साडा का 'साला के रूप मे निखार कैसे हुआ? देहली वस्तुत भाषाओ की 'देहली है। इस चीज को पडित किशोरीदास वाजपेयी ने अपने भारतीय भाषा विज्ञान मे बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है।[1] देहली के पश्चिम म हरियाना है। वहाँ भी 'साडा' ही बोला जाता है। ब्रज मे देहली के दक्षिण मे वहाँ भी 'साला नही चलता। 'राजस्थानी' और 'पाञ्चाली म भी 'साला नही चलता। 'ल' की जगह यहाँ र का चलन है। तब देहली म हिन्दी उर्दू ने 'साडा को 'साला कसे ग्रहण कर लिया? सस्कृत के श्याल' से उस समय लोगो ने 'साला बना कर काम मे लिया हो, यह बात समझ म नही आती। हा देहली से परे मुरादाबाद जिले के पश्चिमी छोर पर न साडा' चलता है न 'सार चलता है। वहाँ साला' सुना जाता है, वही प्रभाव इस निखार मे जान पडता है। हिन्दी उर्दू मे साडा' का निखरा हुआ रूप 'साला' ग्रहीत हुआ।

इसी तरह 'कुरुजनपद' म बोलते हैं —

'पहले गिठी में रोट्टी बना ले

राष्ट्रभाषा म —

पहले अँगीठी म रोटी बना ले

'गिठी' का निखार अँगीठी' और रोट्टी का निखार 'रोटी'। आगि+ठी= अगीठी और फिर अगीठी। अँगीठी' को ही 'कुरुजनपद' मे बोलते हैं 'गिठी' वस्तुत गिन्ठी', धोती को 'धोत्ती और 'जाता है' को जात्ता है वहा बोलते हैं। देहली पहुचते-पहुचते इनम निखार हो गया 'धोती 'जाता है' इत्यादि। इसी तरह कुरुजनपद का बुताऊँ तुझे' राष्ट्रभाषा म हो गया 'बताऊँ तुझे और 'थोडा जल बुचा ले का बुचा ले' हो गया 'बचा ले'।

हिन्दी सघ की अन्य सभी भाषाओ म अँगीठी धोती, जाता है, जसे प्रयोग होते हैं। उन्ही के प्रभाव से 'खडी बोली के बसे शब्दो का वह विकार दूर हो गया। इसके लिए किसी ने कोई प्रयत्न नहीं किया। भाषा मे स्वत निखार हुआ।

१ भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १४६ व २०४

आप कह सकते हैं कि इसे निखार क्यों कहते हैं ? 'गिठी' और 'धोत्ती' आदि को विकृत कहने में प्रमाण क्या है ? प्रमाण है। भाषा की नैसर्गिक और विकृत-परिष्कृत रूप का निर्णय करने में (भाषा की) परम्परा लोक प्रचलन, भाषा विज्ञान और व्याकरण से काम लिया जाता है। वेद भाषा में, लौकिक संस्कृत में और आधुनिक भाषाओं में 'ति' 'त' और ती प्रत्यय दिखाई देते हैं 'त्ति' 'त्त' 'त्ती' नहीं। प्राकृत साहित्य में ये वैसे वर्ण द्वित्व दिखाई देते हैं परन्तु यह प्राकृत कृत्रिम है उस समय के साहित्यिकों की गढ़ी हुई। हो सकता है कहीं किसी भूभाग के जन किसी शब्द को विकृत करके बोलते हों। पर उनके उस 'कंठ विकार' को आदर्श न मान लिया जाएगा। 'लिखा तो है' को यदि कोई 'लिक्खा तो है' पढ़े बोले तो उसे कोई आदर्श न मान लेगा क्योंकि 'लिक्खता है' लिक्खना जैसे उच्चारण वह भी नहीं करता। 'लिक्खा है' बोलने वाला भी अन्यत्र 'लिख' धातु का प्रयोग करता है—'लिखता है' 'लिखना है' बोलता है। इससे स्पष्ट है कि 'लिक्खा है' बोलना उसके कंठ की विकृति है। जन भाषा में 'लिक्खा है' चलता भी रहे, पर साहित्यिक भाषा में उसे ग्रहण न किया जाएगा। साहित्य का क्षेत्र देश तथा काल से सीमित नहीं होता। 'रूस और अमरीका के लोग 'लिख' धातु के पद 'लिखा है' लिखो आदि में 'क' का आगम न करेंगे। भारत में भी सर्वत्र 'क' का आगम नहीं किया जाता, यद्यपि 'रख' धातु के पद 'रखा है' को 'रक्खा है' बोलते हैं। परन्तु वैसा बोलने वाले[1] भी लिखते हैं—'रखा है' ही। यद्यपि पचीस तीस वर्ष पहले तक 'रक्खा' लोग लिखते रहे हैं। फिर 'रक्खा है' का संस्कार हुआ। बताया गया कि धातु 'रख' है इसलिए 'रखा है' लिखना चाहिए। जो लोग 'क' का आगम करके बोलते हैं, वे 'रखा है' को ही 'रक्खा है' पढ़ लेंगे। बंगाली विद्वान संस्कृत के 'जल पिबामि' का उच्चारण 'जोल पिबामि' जैसा करते हैं पर लिखते हैं—'जल पिबामि' ही। स्थानीय उच्चारण भेद को साहित्य में प्रकट करने का उपयोग नहीं किया जाता क्योंकि वह व्यापक होता है। परन्तु इस उच्चारण भेद से उसकी लिखावट नहीं बदलती।[2]

अब आप 'धोत्ती लाता है' आदि को लें। ती और त हिन्दी के अपने प्रत्यय हैं और 'हिन्दी संघ' की सभी भाषाओं में चलते हैं। 'फुरती से काम कर लो' बोला जाता है 'फुरत्ती से' नहीं। धरती को कोई 'धरत्ती' नहीं बोलता। 'जाता है' 'खाता है' बोलने वाले भी 'करता है' पढ़ता है आदि को 'करत्ता है' पढ़त्ता है नहीं बोलते। इससे स्पष्ट है कि यहाँ वर्ण द्वित्व कर देना एक जनपदीय प्रवृत्ति है और यहाँ वह स्वाभाविक है। यहाँ वह 'विकार' नहीं। परन्तु आगे चलकर जब निखार होता है, तो चीज कुछ बदल जाती है। ब्रज राजस्थान पाञ्चाल, अवध, कुमायूँ बिहार आदि

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १४३
२ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० २२-२३

'त' 'ती' का चलन है 'त्त 'त्ती का नहीं। देहली विभिन्न भाषाओं की देहली है ही।'[1] वहाँ खड़ी बोली (कौरवी भाषा) का 'धोत्ती लात्ता है' रूप बन गया 'धोती लाता है'। यही रूप हिन्दवी' 'हिन्दी' और उर्दू' ने स्वीकार किया।

यह निखार स्वतः हुआ। इसी तरह कुरुजनपद में बहन को 'बहण' बोलते हैं। पंजाब में भी ण है—भण'। राजस्थान में भी 'ण' है बहण। परन्तु इसका निखरा हुआ रूप है बहण, राष्ट्रभाषा ने बहन शब्द ग्रहण किया। कुरुजनपद में जो रूप है उसे ग्रहण नहीं किया। देहली (दिल्ली) के तीन ओर 'ण' है और एक ओर पाञ्चाली' में न' है। राष्ट्रभाषा ने न स्वीकार किया। ण' की अपेक्षा न मधुर है, यही समझ कर नहीं, परम्परा का अनुधावन करके। 'भगिनी' का रूपान्तर 'बहिनी' पाञ्चाली में चलना है, और 'बहिनी का रूपान्तर 'बहन' है जिसे अन्य लोग बहण बोलते हैं। राष्ट्रभाषा ने निखरा हुआ रूप 'बहन' लिया। कुरुजनपद पंजाब और राजस्थान के लोग भी राष्ट्रभाषा में बहन' ही लिखते बोलते हैं अपनी अपनी भाषा में न' की जगह 'ण' कर लेते हैं। यदि राजस्थानी में कोई साहित्यिक रचना की जाए, तो वहाँ बहण' ही रहेगा और 'पंजाबी साहित्य में भण रहेगा। वहाँ 'बहन न चलेगा। राष्ट्रभाषा का निखार वहाँ बेमजे रहेगा, जैसे शर्बत से चीनी अलग कर दी गई हो। हम यहाँ राष्ट्रभाषा का जिक्र कर रहे हैं। मरठी (कौरवी) भाषा में यदि कोई साहित्य रचना करे, तो फिर बहण मेरी धोत्ती लात्ती है लिखना ही होगा। तब बहन धोती लाती है जैसे पद न चलेंगे। गन्ना चूसते समय ऊपर का छिलका आदि रहेगा ही। परन्तु चीनी में वह सब न रहेगा ?[2]

इसी तरह मेरठी परिसर में प्राय दीर्घ अनुनासिक स्वर को निरनुनासिक करके और अगले व्यंजन के पहले अनुनासिक व्यंजन लगाकर बोलते हैं —'भाटा को भान्टा 'आँखा से देख को 'आडखा से देख' दाँतो में को दान्तो में' चाँदी को चान्दी' 'फाँसी' को फान्सी' राष्ट्रभाषा ने यह प्रवृत्ति स्वीकार नहीं की। यहाँ भाटा 'आँख' दांत' जसे रूप चलते हैं। लौकिक संस्कृत में अनुनासिक स्वरों का चलन प्राय नहीं है, पर वैदिक संस्कृत में है। इससे स्पष्ट है कि आद्य आर्य भाषा (मूलभाषा) में अनुनासिक स्वरों का खूब चलन रहा होगा, पर उस समय भी कदाचित् कहीं के लोग स्वरों को निरनुनासिक करके अनुनासिक व्यंजन बोलते हों, और कुरुजनपद भी इसी प्रवृत्ति का हो। लोगों का अनुमान है कि कुरुजनपद की ही भाषा को व्यवस्थित करके प्रचलित 'संस्कृत' का रूप दिया गया है। 'कान्टा आदि से इसकी पुष्टि होती है। परन्तु अन्यत्र (मूल आर्यभाषा की) अनुनासिक स्वरों की ओर प्रवृत्ति रही और

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २०४

२ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १५०

यहाँ अब तक भी 'काँटा छींट बूट 'ऊँट आदि' में यह चीज स्पष्ट है। हिन्दी (राष्ट्र भाषा) ने भी यही प्रवृत्ति स्वीकार की है।[1] यह भी निखार ही है। किसी ने आन्दोलन नहीं किया था कि काटा को 'काँटा लिखो-बोलो। इसी तरह बहुत निखार 'खड़ी बोली' में हुआ है तब उस हिन्दी का रूप मिला है।

भाषा का सस्कार

अन्य वस्तुओं की तरह भाषा का भी सस्कार किया जाता है। निखार होता है और सस्कार परिष्कार किया जाता है। भाषा में प्रकृति प्रत्यय आदि की अव्यवस्था को दूर करना 'सस्कार' कहलाता है। इस क्रिया का नाम 'व्याकरण' या 'शब्दानुशासन' रखा गया है। सस्कार से भाषा चुस्त व व्यवस्थित होती है।

पजाब के हिन्दीसेवी जन बोलने में ही नहीं लिखने में भी 'को' की जगह 'ने' लगा देते हैं। गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय पजाब 'आर्य प्रतिनिधि सभा' का है। उसके सस्थापक सचालक पोषक, आदि प्राय सब पजाबी हैं और अध्यापक प्राध्यापकों में भी पजाबी ही अधिक हैं। इस सस्था ने प्रारम्भ से ही शिक्षा का माध्यम हिन्दी स्वीकार किया। परन्तु यहा की हिन्दी में पजाबी भाषा का स्वचित साक्य हो गया है। यहाँ के स्नातकों के मुख से ऐसे प्रयोग सुने जाते हैं —

उसने सोचा यह काम राम ने करना ही चाहिए।

भरत ने यह निर्णय करना है कि वह किस पद्धति को अब अपनाएगा।

पजाब से निकलने वाले हिन्दी समाचार पत्रों में ऐसे ही प्रयोग होते हैं। दिल्ली के 'वीर अर्जुन' में भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं।

इसका परिष्कार यह है कि भविष्यत काल की क्रिया में 'ने' का नहीं 'को' का प्रयोग होता है इस नियम का निर्धारण 'राम ने रोटी खाई' भूतकाल की क्रिया में 'ने' ठीक है। क्रिया कर्मवाच्य है। परन्तु भविष्यत काल की क्रिया कर्मवाच्य हो तो 'ने' का नहीं कर्ता कारक में 'को' का प्रयोग होता है और क्रिया की अवश्य कर्त्तव्यता प्रकट होती है—

राम को रोटी खानी है।

भरत को अब निर्णय करना है।

यहा 'ने' का प्रयोग गलत है। यह परिष्कार (या व्याकरण) का विषय है। पजाबी भाषा में बोलते हैं —

राम नू रोटी खाणी है

भारत नू हुण निर्णय करणा है

यह 'नू' वहीं लगता है जहाँ हिन्दी में 'को', यानी भूतकाल की क्रिया में 'नू'

---

१ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ३०

२ लेखन-कला पृ० १२

कर्ता कारक म नही लगता । दूसरे शब्दो म जहाँ पजाबी भाषा 'नू लगाती है । वहाँ हिन्दी 'को का प्रयोग करनी है और राजस्थानी म वही ने लगती है—

राम को रोटी खानी है—हिन्दी
राम नू रोटी खाणी है—पजाबी
राम न रोटी खाणी है—राजस्थानी

यह 'नू और न' हिन्दी की ने' विभक्ति स अलग चीज है। हिन्दी की ने' विभक्ति से पजाबी की 'नू विभक्ति का कोई सबध नही है न राजस्थानी की ने का ही है। हिन्दी की न विभक्ति भूतकाल की क्रिया मे लगती है और 'नू पजाबी की तथा राजस्थानी की 'ने' विभक्ति भविष्यत काल की क्रिया मे। रग रूप उपर स एक सा लगता ह पर दाल म नमक पडता है, खीर म सित शक्‍करा। दाना के स्वाद म आकाश-पाताल का अतर है और यह स्वाद भेद ही वस्तु भेद का निर्णायक है । भाषा विज्ञान क अनक विद्वाना ने लिख दिया है कि हिन्दी की न विभक्ति राजस्थान तक चली गई है। यह गलत बात है।[1] राजस्थानी न विभक्ति भिन्न चीज है । यह सब आचाय वाजपेयी न अपने भारतीय भाषा विज्ञान' म विस्तार स स्पष्ट किया है।

यह पथक बात है कि हिन्दी की न विभक्ति पजाबी म और आगे डोगरी भाषा म भी यत्र-तत्र दिखाई देती है । हिन्दी, पजाबी और डोगरी एक ही दिशा की भाषायें हैं। परन्तु ने पजाबी म भी भूतकाल की ही क्रिया म लगती है, भविष्यत म नही । भविष्यत म 'न लगती है। डोगरी म नू है ही नही। और, जहाँ भी हिन्दी को लगाती है वही पजाबी नू और राजस्थानी ने लगाती है इसका मतलब यह कि विभक्ति भेद होने पर भी पद्धति एक ही है —

राम को देख—हिन्दी
राम नू वेख—पजाबी
राम न दख—राजस्थानी

× × ×

राम को प्यास लगी है—हिन्दी
राम नू तिस्स लग्गी है—पजाबी
राम ने प्यास लागी है—राजस्थानी

स्पष्ट है कि 'को की जगह पजाबी मे नू' लगती है और देश नू निणय करणा है' के सस्कार 'देश ने निणय करना है करा देते हैं। हिन्दी मे ऐसे प्रयोग गलत हैं।

इसी तरह उत्तर प्रदेश के पूर्वी अचल म पहले हिन्दी की स्थिति कुछ ऐसी

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २२२ २२३

हो थी। हिन्दी में और पाञ्चाली अवधी, भोजपुरी, आदि भाषाओं में विभक्ति भेद है और मार्ग भेद भी है। फलतः अब से सौ वर्ष पहले वहाँ भी कुछ ऐसे ही प्रयोग हो जाते थे। स्वयं भारतेन्दु बाबू के ऐसे हिन्दी प्रयोग सामने हैं। आगे चल कर संस्कार हुआ और यह काम प्रमुखतः आचार्य द्विवेदी ने किया। यह सब यथास्थान आगे स्पष्ट किया जाएगा।

आपके आज्ञानुसार या 'आपकी आज्ञानुसार

इन प्रयोगों में कौन सा शुद्ध है? 'आप की आज्ञानुसार' चल रहा था, परन्तु काशी के कुछ विद्वानों ने कहा— 'आप की आज्ञानुसार' गलत है; शुद्ध है 'आप के आज्ञानुसार'। इस पर विवाद चला और आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्द मीमांसा'[1] में और 'हिन्दी शब्दानुशासन' में स्पष्ट किया कि हिन्दी में 'आप की आज्ञानुसार'[2] ही शुद्ध है; 'आप के आज्ञानुसार' गलत है। यह भाषा का संस्कार या प्रति संस्कार हुआ। 'संस्कार' भी एक परिष्कार ही है और इस अधिनिबन्ध में 'परिष्कार' शब्द से उसका ग्रहण है।

भाषा का परिष्कार

गेहूँ में कंकड़-पत्थर या सरसों आ मिलें, उन्हें साफ करना होता है। यही परिष्कार है। हाँ, स्वाद के लिए चने या जौ आवश्यकता के अनुसार रह सकते हैं; प्रत्युत मिलाए भी जाते हैं। यही स्थिति भाषा की है। किसी भी भाषा में किसी दूसरी भाषा के कुछ तत्त्व आ मिलते हैं या ले लिए जाते हैं। परन्तु यह सब प्रकृति को विकृत कर के नहीं होता। कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से अनावश्यक शब्द नहीं लेती है और जो लेती है, उसे अपने ढंग-ढाल में ढाल लेती है। कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से क्रिया शब्द नहीं लेती;[3] धातु शब्द अपने ही रखती है। धातु शब्द 'कर' 'खा' आदि हिन्दी, पंजाबी, अवधी, भोजपुरी, गुजराती, बँगला आदि में प्राय समान ही हैं; परन्तु उन से बने क्रिया पद भिन्न रूप हैं। 'कर' धातु के 'करता है' पद हिन्दी में 'करेगा', ब्रजभाषा में 'करिहै', पाञ्चाली में, 'करिहहि' अवधी में चलते हैं। क्रिया भेद से भाषा भेद। विभक्ति आदि में भी प्राय भेद रहता है। ब्रज भाषा में 'करेगा' न चलेगा और न राष्ट्रभाषा में 'करगो' ही। यदि कोई इधर का उधर करेगा, तो असावधानी समझी जाएगी और यदि किसी साहित्यिक ने वैसी सकर भाषा लिखी, तो फिर उसका परिष्कार अपेक्षित होगा।

कई बार लोग शुद्ध को भी अशुद्ध कर देते हैं और जान बूझ कर करते हैं, यह समझ कर कि हम शुद्ध कर रहे हैं। तब परिष्कार करना पड़ता है। हिन्दी ने सीधा

---
१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ १३०
२ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ३४०
३ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १६

सादा मार्ग अपनाया है। उदाहरणार्थ हिन्दी ने संस्कृत का 'विस्तार' शब्द लिया है— 'ग्रंथ का विस्तार' लेख का विस्तार। अब कोई यह कहे कि यहाँ संस्कृत शब्द 'विस्तर' चलेगा, क्योंकि संस्कृत में 'ग्रंथस्य विस्तर' 'निबन्धस्य विस्तर' होता है। 'विस्तार' का प्रयोग पृथक होता है— वनस्य विस्तार' 'भवनस्य विस्तार'। ऐसा कह कर यह 'हम आगे विस्तर से यह कहेंगे' ऐसे प्रयोग करना—चलाना चाहे, तो न चलेगा। कोई प्रभावशाली व्यक्ति वैसा प्रयत्न चला दे तो भाषा विकृत होगी। लोग फिर 'विस्तर' को ही तरह 'विचार' को 'विचर' लिखने लगेंगे शुद्ध समझ कर। भाषा में लबड़धोधों मच जाएगी। इसलिए परिष्कार करना होगा। विस्तर-वादियों को समझाना होगा कि हिन्दी स्वतंत्र भाषा है, यहाँ सब कुछ संस्कृत का ही न चलेगा। यहाँ सर्वत्र 'विस्तार' गृहीत है, 'विस्तर' नहीं। इसी तरह 'राष्ट्रीय' की जगह कोई 'राष्ट्रिय' चलाने का उपक्रम करे तो वहाँ भी परिष्कार अपेक्षित होगा।[1]

अंग्रेजी के 'डाक्टर' आदि शब्द हिन्दी में चलते हैं। परन्तु कोई 'डाक्टर' चलाने लगे, तो नियमन करना होगा क्योंकि यहाँ 'मास्टर' की तरह ही 'डाक्टर' चलता है।[2] हिन्दी में 'जरूरी' 'बाजार' आदि विदेशी भाषाओं के शब्द गृहीत हैं पर कोई विदेशी उच्चारण भी हिन्दी भाषियों पर लादे और 'जरूरी' 'बाजार' जैसे रूपों में उन्हें उपस्थित करे, तो परिष्कार अपेक्षित हो जाएगा।

इसी तरह यदि अज्ञान से लोग 'एशियाई' की जगह 'एशियायी' लिखने लगें तो संस्कार-परिष्कार अपेक्षित होगा। बताया जाएगा कि 'एशियायी' गलत है 'एशियाई' शुद्ध है। इसी तरह 'लताएँ' की जगह कोई 'लताय' भ्रम से लिखे और ऐसे रूपों को ही शुद्ध समझे, तो परिष्कार जरूरी होगा। बतलाया जाएगा कि 'लताएँ' शुद्ध हैं, 'लतायें' गलत है। आगे यह सब विस्तार से बतलाया जाएगा। यही तो हमारा प्रतिपाद्य विषय है।[3]

कौरवी भाषा का साहित्यिक रूप उर्दू और हिन्दी

कौरवी भाषा की दक्षिणी बोली दिल्ली तक है। दिल्ली के इधर इधर राजस्थानी तथा व्रज की जनपदीय भाषायें स्पष्ट हैं जो सब (दिल्ली) शहर को स्पर्श करती हैं। कौरवी की इसी बोली का निखरा हुआ रूप उर्दू और हिन्दी के रूप में प्रकट हुआ है। यानी कौरवी भाषा का देहलवी रूप ही निखर सँवर कर हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है। यहाँ आते आते उसका रूप व्रजभाषा से प्रभावित हो गया है। यानी उसका रूप 'राम गिंठी लात्ता है' निखर कर 'राम अंगीठी लाता है' हो गया।

१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० ६७ व ६९-७०
२ आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी पृ० ८६
३ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० १२

दिल्ली के मुसलमान शासकों ने भाषा का यही रूप ग्रहण कर लिया। किसी भी शासक को जनभाषा से काम पड़ता ही है। विदेशी शासक को भी शासित जनता की भाषा सीखनी पड़ती ही है। इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। फिर आगे चलकर शासित जन शासक का प्रसाद पाने के लिए उसकी भी भाषा सीखते हैं और उनके द्वारा जनभाषा पर भी शासकों की विदेशी भाषा का प्रभाव पड़ता है। उनकी भाषा के संज्ञा शब्द तथा कुछ विशेषण आदि जनभाषा में आ मिलते हैं। विदेशी शासक शासित जनता की भाषा को अपनी (विदेशी) लिपि में ही लिखते हैं। नई लिपि सीखने का वृथा उद्योग नहीं करते। सो कौरवी भाषा को इस 'देहलवी बोली' को वे लोग अपनी फारसी लिपि में ही लिखने भी लगे। इस भाषा का नाम पहले 'हिंदुई' या 'हिंदवी' जैसा पड़ा। अंग्रेज लोग हमारी भाषाओं को वर्नाक्यूलर कहते थे—शासितों की भाषा। वे हमारी भाषा को रोमन लिपि में ही लिखते भी थे। आगे चल कर मुसलमान शासकों का इस भाषा से अपनापन भी पैदा हो गया और तब हिंदवी या हिंदुई नाम उन्हें अच्छा न लगा और उर्दू नाम रख लिया।

देश की बीसों भाषायें सीखने का झंझट शासक क्या करते? सभी प्रदेशों में उन्होंने अपनी उर्दू भाषा से ही काम लिया। काम चल गया। देश के सब सरकारी काम-काज उर्दू भाषा में चलने लगे। उर्दू को महत्त्व मिला। परन्तु और आगे चल कर राजा टोडरमल ने ऊंचे दफ्तरों की भाषा फारसी कर दी और नीचे के छोटे दफ्तर उर्दू में रहे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा टोडरमल ने बादशाह अकबर की सरकार को और अधिक प्रसन्न करने के लिए ही यह काम किया अन्यथा भारत की अपनी भाषा (भले ही विदेशी लिपि में सही) बहुत उपयुक्त थी। देश की भाषा नीचे कर दी गई और विदेशी भाषा (फारसी) ऊपर लाद दी गई। राजा टोडरमल टंडन (खत्री) थे। उन्होंने यह राष्ट्रीय अपराध जाने अनजाने किया उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त तीन चार सौ वर्ष बाद उनके महान वंशधर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने कर दिया। हिंदी को राज काज की भाषा बनने-बनवाने में विदेशी भाषा (अंग्रेजी) की जगह हिंदी को प्रतिष्ठित करने में राजर्षि टंडन ने वही काम किया है जो कि पुरुषोत्तम (श्री कृष्ण) ने किसी समय 'गोवर्द्धन' को ऊपर उठाने में किया था। लकुटिया सभी ने लगाई पर गोवर्द्धन श्री कृष्ण के बिना उठने का न था। उर्दू नीचे के दफ्तरों में रह गई, पर प्रचार न रुका बढ़ता ही गया। ऊपर के भी अधिकारियों को उर्दू पढ़नी ही पड़ती थी क्योंकि नीचे के अधिकारियों से काम पड़ता था। बंगाली पहाड़ी गुजराती आदि भी उर्दू पढ़ते थे यदि सरकारी नौकरी करना चाहते थे। फारसी लिपि का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया। बड़े-बड़े राजा रईस और सेठ-साहूकार ही नहीं, किसी भी तरह के प्रतिष्ठित परिवार के बच्चों का 'अक्षरारम्भ' संस्कार फारसी लिपि के 'अलिफ' 'बे' से होता था। राजर्षि टंडन का ही नहीं, महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा का

भी 'अभरारम्भ' उसी 'अलिफ' 'बे' से हुआ था। झा महोदय बिहार के उस 'मैथिल' भू भाग के प्रतिष्ठित ब्राह्मण-परिवार में जनमे थे जहाँ संस्कृत भाषा का प्राधान्य था। परन्तु उनका भी अभरारम्भ फारसी लिपि से हुआ। राज-सत्ता का प्रभाव।[१]

उर्दू में साहित्यिक रचनायें भी होने लगी और होते होते यह भाषा ऐसी मँज सँवर गई कि किसी तरह की कोई कोर-कसर न रह गई। शायरी में उर्दू बहुत ऊँचे उठ गई। दिल्ली लखनऊ आदि के दरबार उर्दू के शायरों को खूब प्रोत्साहन देते थे। राजाश्रय से उर्दू कविता चमक उठी।

हिन्दू भी उर्दू में कविता करते थे, परन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से ब्रजभाषा की ओर झुकाव था। ब्रजभाषा नागरी लिपि में चल रही थी।

उर्दू को (विदेशी लिपि में देखकर विदेशी शब्दों के भरमार से और विदेशी भावना से भरी होने के कारण) लोग अपनी चीज न समझते थे। मुसलमान शासकों का प्रश्रय मिलने के कारण भी कुछ वैसी भावना थी। फिर भी, वह चल रही थी। परन्तु इधर उर्दू की स्पर्धा में ब्रजभाषा बढ़ रही थी। ब्रज की जनपदीय भाषा—उसकी मथुरा की बोली—अपने निखरे हुए रूप में साहित्यिक ब्रजभाषा बन कर सम्पूर्ण देश में फैल गयी। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव ने ब्रजभाषा में कविता की गुजरात के नरसी भगत ने ब्रजभाषा में कविता की काठियावाड़ में ब्रजभाषा कविता बनी, बंगाल में उड़ीसा में और दक्षिण भारत में भी ब्रजभाषा पहुँची। यानी सरकारी तौर पर उर्दू और राष्ट्रीय वृत्ति से ब्रजभाषा ने सम्पूर्ण देश को प्रभावित किया।

अंग्रेजी राज में हिन्दी

अंग्रेजी राज आने पर भाषाओं का मूलतः अध्ययन हुआ। लोगों ने समझा कि 'राम अपने मकान में किताब पढ़ रहा है' को यदि नागरी लिपि में लिखा तो यही हिन्दी है। 'मकान' की जगह 'घर' और 'किताब' की जगह 'पुस्तक' कर लो, बस। किसी हिन्दुस्तानी लड़की को ईरानी-तूरानी पोशाक पहना दो, तो भी वह हिन्दुस्तानी ही रहेगी। ऊपरी वेश विन्यास कुछ भ्रम जरूर पैदा कर देता है। उसे हटा दो और उसकी जगह अपना पहनावा ले लो तो फिर सब का ज्यों का त्यों। इसी तत्त्व ग्रहण ने उर्दू को फिर हिन्दुई या 'हिन्दवी' नाम से तो नहीं हिन्दी नाम से ग्रहण किया।

उस समय हिन्दी में जो रचनायें हुईं, उन में फारसी आदि के शब्द प्रायः नहीं हैं, पर ब्रजभाषा के शब्द हैं। इस का कारण है। ब्रजभाषा ही उस समय तक साहित्यिक राष्ट्रभाषा थी। उर्दू तो राज भाषा थी नंबर दो की। अंग्रेजी राज आने से उर्दू का वह महत्त्व भी सरकारी तौर पर न रहा। उस समय के प्रमुख साहित्यिक पं० लल्लू लाल जी 'लाल कवि' ब्रज के रहने वाले थे। कलकत्ते पहुँचकर इन्होंने जनता तथा सरकार से प्रोत्साहन प्राप्त किया। 'लाल' कवि ने कुछ पुस्तकें लिखीं। उस

---

१ आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी पृ० ६४ ६५

समय की रचनाओं में किसी में ब्रजभाषा का पुट रहा किसी में नहीं। यह भी सम्भव है कि उर्दू से विलगाव प्रकट करने के लिए ब्रजभाषा का पुट दे देते हों। यह प्रवृत्ति बहुत आगे तक देखी जाती है। द्विवेदी युग के सुप्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक तक इस प्रवृत्ति में रहे।

आगे चल कर हिन्दी का रूप बनता गया, ब्रजभाषा का पुट छूटता गया। पहले उर्दू के शायर भी ब्रजभाषा का पुट देते थे। यह कोई ऐब न था। ब्रज तो क्या सात समुन्दर पार के देशों के भी शब्द आवश्यकतानुसार हिन्दी ने लिए हैं। ब्रजभाषा तो उसकी अपनी सखी है—'हिन्दी संघ' की सुप्रतिष्ठित भाषा।

यह 'हिन्दी संघ' क्या चीज है? यह शब्द आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में दिया है। 'हिन्दी और हिन्दी परिष्कार' चर्चा में बार-बार इस शब्द का प्रयोग होना अनिवार्य है। इसलिए इसकी चर्चा संक्षेप में आवश्यक है।

बहुत सी भाषाओं का संघ—हिन्दी-संघ। अब तक लोग यह कहते समझते रहे हैं कि अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं। आचार्य वाजपेयी ने इसका खण्डन करके यह प्रतिपादित[1] किया है कि अवधी, मैथिली, राजस्थानी, कुमायूनी आदि सब स्वतन्त्र भाषायें हैं, हिन्दी की ये बोलियाँ नहीं हैं। पृथक् भाषा बनाने वाले तत्त्व इन सब में हैं। सबके क्रिया पद, विभक्तियाँ तथा वचन विन्यास के ढंग अपने अपने हैं। बहुत भेद है—'आ गया' राजस्थानी का बहुवचन है—'आ गए' हिन्दी का बहुवचन है, कितना अन्तर है? 'आ गया' हिन्दी का एकवचन है। हिन्दी में जहाँ 'को' विभक्ति लगती है। राजस्थानी में वहाँ 'ने' विभक्ति लगती है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का कर्ता हिन्दी में जिस 'ने' विभक्ति के साथ आता है वह राजस्थानी में है ही नहीं।

+ + +

हिन्दी में अकारान्त पुंवर्गीय संज्ञा का बहुवचन एकारान्त हो जाता है—लड़के आए। परन्तु ब्रजभाषा में एकारान्त नहीं होता—सब छोरा आ गए। यहाँ हिन्दी में 'बड़ा लड़का' देखते हैं ब्रज में 'बड़ो छोरा' चलता है।

हिन्दी में 'लड़का आया है' होता है, पाञ्चाली में 'लरिकवा आयो है' और अवधी में 'लरिकवा आवा है'। कारक विभक्तियों में भी अन्तर है और शब्द समूह में भी। पाञ्चाली की कानपुरी बोली में एक वाक्य देखिए—

'जब पहिली तनक तनक चुरन लागि तब निमानु मोहि क धरि गान औ तब हम डोनु उबहनौ मदक नहान चलन' क्या यह है हिन्दी? इसे ब्रज या अवध के लोग तो समझ भी लें परन्तु गढ़वाल या कुमायूँ की भाषा तो कदापि समझ में न आएगी यदि उधर से सम्पर्क न हो। तब फिर ये सब हिन्दी की बोलियाँ कैसे? किसी

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १९८-१९९

भाषा की बोलियाँ होती हैं— आठ कोस पर पानी बदले 'पाँच कोस पर बानी'। यही बदली हुई 'बानी' ही किसी भाषा की बोली कहलाती है। 'कौरवी' भाषा की भी कई बोलियाँ हैं। हरिद्वार-सहारनपुर की बोली से मेरठ मुजफ्फरनगर की बोली भिन्न है। परन्तु इन बोलियों में मूल तत्व एक है इसलिए ये सब एक भाषा की बोलियाँ हैं। यदि ये मूल तत्व बदल जाएँ, तो भाषा बदल गई। ऐसा न हो तब तो 'गुजराती' और 'बँगला' आदि को भी हिन्दी की बोलियाँ कह सकते हैं। ठीक है क्या ? तब तो हिन्दी को भी संस्कृत की एक बोली कह सकते हैं। 'राम गत' और 'राम गया' में उतना अन्तर नहीं है, जितना हिन्दी और राजस्थानी क्रियाओं में !

एक जगह 'गया' एक वचन और अन्यत्र वही बहुवचन ! अवधी में 'आवा' भूतकाल पुंवर्गीय एकवचन है और बनारस (भोजपुरी भाषा का) आवा आना अनुज्ञार्थक म० पु० बहुवचन है— आवा न आओ न ! सो ये सब स्वतंत्र भाषायें हैं जिन्हें लोग 'हिन्दी' की बोलियाँ कहा करते हैं।

हाँ यह बात जरूर है कि इन सब भाषाओं का एक संघ बन गया है, यद्यपि किसी ने प्रयत्न पूर्वक बनाया नहीं है। राजस्थानी भाषा के 'रासो' आदि काव्य को बिहार के मैथिली तथा भोजपुरी भाषा वाले भी अपना समझते हैं और मैथिली के कवि विद्यापति ठाकुर को राजस्थान वाले अपना कवि समझते हैं। तुलसीदास मेरठ के भी हैं और कुमायूँ गढ़वाल के भी। सूरदास की कविता अवधी की भी सम्पत्ति है। यानी 'कामन वेल्थ' है इन सब स्वतंत्र भाषाओं का। अपने अपने क्षेत्र में सब स्वतन्त्र हैं अपने अपने नियम हैं।

तो यह संघ बना कैसे ? किसी ने कभी यह भाषा संघ बनाया हो, इसका पता नहीं लगता। यह बना हुआ सामने है। यहाँ तक कि इस भाषा संघ की प्रायः अठारह-बीस करोड़ जनता को लोग हिन्दी भाषी ही कहते हैं। परन्तु भाषा अध्ययन से पता लगता है कि इस संघ की सब भाषायें सर्वथा अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं।[२]

यहाँ कभी भाषा विवाद नहीं उठा न भाषाई राज्य निर्माण की कोई चर्चा उठी, इस युग में भी सुदृढ़ संघ है।

सोचने से समझ पड़ता है कि एक लिपि की व्यवस्था ने ही यह भाषा-संघ बना दिया। सर्वत्र नागरी लिपि का व्यवहार है। अंग्रेजी राज में उत्तर प्रदेश की अदालतों तथा सरकारी अन्य कामकाज की (निचले दर्जे की) भाषा उर्दू थी। परन्तु उस समय भी जनता अपने व्यवहार में नागरी का उपयोग करती रही। यद्यपि यहाँ भी (मुसलमानी शासन-काल में) नागरी लिपि से मिलती जुलती उसी के रूपान्तर-रूप प्रादेशिक लिपियों का निर्माण हुआ पर वे सब चल न पाईं। एक लिपि का

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० ३०१
२ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १७०

नाम 'कथी' था। वह कुछ चली पर आगे न बढ़ी। रामचरित-मानस की कुछ पुरानी प्रतियाँ आज भी 'कथी' लिपि में उपलब्ध हैं परन्तु इसकी अपूर्णता के कारण मानस के पाठ में कई जगह भारी भ्रम पैदा कर दिए हैं। नागरी प्रतियों से मिलान करने पर ही भेद खुलता है। यदि नागरी लिपि पर दृढ़ता न होती तो वह अपूर्णता ठीक कर ली जाती।

राजस्थानी का भी साहित्य नागरी लिपि में है ब्रजभाषा का भी और अवधी का भी। मैथिली भाषा की लिपि भिन्न है और आज भी मैथिल जनों में उसका प्रयोग होता है, परन्तु साहित्य सब नागरी लिपि में ही उतरता है। जिन भाषाओं में वैसा साहित्य नहीं, उनका लेखन भी नागरी लिपि में ही होता है।

सो सब से बड़ा कारण एक लिपि की व्यवस्था है। पंजाबी भाषा की लिपि गुरुमुखी है जो नागरी का ही रूपान्तर है। कदाचित् इसीलिए पंजाबी भाषा इस 'भाषा संघ' में नहीं है यद्यपि यह (पंजाबी भाषा) हिन्दी के निकटतम है। राजस्थानी इस संघ में है, पर गुजराती नहीं।

यह ठीक है कि 'हिन्दी संघ' की भाषाओं में सम्बन्ध प्रत्यय 'क' है और कहा जा सकता है कि पंजाबी में 'द' प्रत्यय होने के कारण वह इस संघ में न गिनी गई होगी। बात जँचती है परन्तु 'जोधपुरी राजस्थानी' में भी 'क' नहीं है 'र' है। परन्तु यह (जोधपुरी राजस्थानी) हिन्दी संघ में है। इस दृष्टि से पंजाबी निकटतम है हिन्दी के। देखिए—

एक व०	राम का लड़का गया	हिन्दी
बहु व०	राम के सब लड़के गए	
एक व०	राम दा मुंडा गया	पंजाबी
बहु व०	राम दे मुंडे गए	
एक व०	राम रा छोरो गयो	जोधपुरी राजस्थानी[1]
बहु व०	राम रा छोरा ग्या	

कौन सी भाषा हिन्दी के निकटतम है? हिन्दी में जो एकवचन का रूप है, जोधपुरी राजस्थानी में वही बहुवचन का है! कितना अन्तर है? पंजाबी में हिन्दी के समान ही रूप हैं। फिर भी संघ में पंजाबी नहीं है और जोधपुरी राजस्थानी है। सो सम्बन्ध प्रत्यय 'क' की समानता होने पर भी एकसूत्रता का प्रमुख कारण नागरी लिपि है।

इस भाषा संघ की सभी भाषाओं का भी समान प्रभाव रहा है। अवधी के 'रामचरितमानस' में ब्रजभाषा के भी शब्द हैं—क्रिया पद भी हैं और कारक विभक्तियाँ तक हैं। कहीं-कहीं तो पूरा वाक्य ही ब्रजभाषा का है। सूरदास के पदों में अवधी व्रजभाषा के शब्द हैं। 'मानस' में कौरवी भाषा के भी शब्द हैं—'राम रूप

1 भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २०३

केहि कारन आया । अवधी में आवा' पद है। 'गवा अवधी का पद है, पर मानस, में पान्चाली का 'गा' भी है—'मत जोजन गा लका पारा । इसी 'गा' का व्रज भाषा साहित्य में भी ओ' लगाकर प्रयोग है—कढियो अबीर प अहीर को कढ्‍ै नही ।[१] व्रज भाषा का अपना पद है गयो । पान्चाली की 'करिहै मरिहै आदि भविष्यत की क्रियाएँ भी व्रजभाषा साहित्य में खूब हैं। व्रज की अपनी क्रियाएँ हैं—करंगो, मरगौ, आदि।

साहित्य में ही नहीं जन भाषाओं में भी यह आदान प्रदान है। कौरवी में 'आ धातु है अन्यत्र अव है। व्रज आदि में 'आवत हं' आदि पद चलते हैं, आत हैं नहीं। व्रज मे—'अवनो स्याम को है सपनो री प्रयोग होता है और कौरवी में—'राम का आना तो है सपना ही । परन्तु व्रज की जनता बोलती है—आनो-जानो तौ लग्यो ही रहैगो । यहा 'आवनो जावनो' न चलेगा। यानी कौरवी के 'आना' को लेकर खडी पाई हटा दी और अपनी मुहर (ओ) लगा कर 'आनो रूप ग्रहण कर लिया।

अवधी पान्चाली आदि में 'मारापीटी आदि प्रयोग होते हैं पर कुरुजनपद में 'मारपीट' आदि। परन्तु आव धातु के योग में 'आवा जाई जो बनते हैं सो अलग हैं। इसकी जगह आ जा न होकर आना जाना जैसे शब्द यहा चलते हैं। परन्तु सस्कृत 'गमन के साथ अपनी आव धातु जोडकर अवधी पान्चाली ने जो आवागमन शब्द एक विशेष अर्थ के लिए गढा है वह तो सब की सभी भाषाओं में चलता है। इसकी जगह कहीं कोई दूसरा शब्द नहीं गढा गया। जो लोग कहते हैं कि सस्कृत शब्दों के साथ जनभाषा के शब्दों का जोड-तोड ठीक नहीं उनको यह 'आवागमन पूरा जवाब देता है। 'सराहनीय और अकाट्य जैसे शब्द भी हैं। किसी समय यह बडा विवाद उठ खडा हुआ था कि अनस्थिरता प्रयोग कम है यानी अन हिंदी का और स्थिरता' सस्कृत का यह ठीक नहीं है। सस्कृत का 'अ चाहिए—'अस्थिरता'। बात ठीक है, परन्तु यह दलील कच्ची है कि सस्कृत शब्द के साथ लोक भाषा के शब्द का योग होना ही नहीं चाहिए। 'आवागमन अवधी ने बनाया है चल रहा है कोई रोक नहीं सकता। परन्तु इसकी नकल पर कोई पढना लिखना की जगह 'पठन लिखना' नहीं कर सकता न 'उठक-बठक की जगह 'उत्थित-बठक ही कर सकता है। भाषा अपने सिक्के ढालती है, कोई नकली सिक्के नहीं चला सकता। सक्षेप में यह भाषा-सघ की चर्चा हुई।

अब रही बात यह कि इसका नाम हिन्दी सघ क्या रखा जाए अवधी-सघ' जसा कोई क्या नहा ? भाषाएँ तो सब बराबर हैं न ?' ब्रिटिश कामनवेल्थ' से ब्रिटिश शब्द हटा दिया गया है। ठीक है, हिदी-सघ न सही 'भाषा-सघ सही। नाम चाहे

१. महाकवि पद्माकर।

जो रख लो'। मतलब से मतलब। परन्तु 'ब्रिटिश' हटा देने पर भी प्रधानता तो बनी ही रही। अपने अपने घर में सब स्वतन्त्र होने पर भी किसी पर प्रधानता हो सकती है। जो भाषा हिन्द भर में बोली—समझी जाए वह 'हिन्दी'। किसी समय ब्रजभाषा को ही 'हिन्दी' कहते थे, क्योंकि पूरे देश की वह सामान्य साहित्यिक भाषा थी। शताब्दियों पहले एक मुसलमान विद्वान ने ब्रजभाषा का व्याकरण लिखा था, जिसका नाम है 'हिन्दी का व्याकरण'। आज दिल्ली की लोक भाषा हिन्द भर की व्यवहार भाषा है—'हिन्दी'। पहले कभी इसे भी सब की एक बोली कहते थे—खड़ी बोली। भाषा विज्ञान के अनुसार बोली का पृथक् लक्षण है। 'खड़ी बोली' में 'बोली' शब्द भाषा के अर्थ में है।

हिन्दी का प्रचार युग

उन्नीसवीं शताब्दी को हम हिन्दी का प्रचार युग कह सकते हैं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से विचार युग प्रारम्भ होता है। प्रचार युग में इस बात का विचार न होता था कि कौन सा शब्द किस तरह लिखा जाए। गेहूँ बटोर कर घर में लाना एक काम है और फिर उन्हें साफ करना दूसरा काम है। यह भी देख छाँट करनी होती है कि कौन सा गेहूँ किस जाति का है। बढ़िया दलिया बनाने के लिए 'कठिया' गेहूँ अच्छा रहता है। किसी दूसरे काम के लिए दूसरी जाति का गेहूँ अपेक्षित होता है। यह छाँट भी होती है। इस तरह भाषाओं के शब्द छाँटे जाते हैं। एक भाषा के शब्द दूसरी में पहुँच जाते हैं—रम जाते हैं। वहाँ उन्हें अपनी पुरानी प्रकृति में कुछ हेर फेर करना होता है। उदाहरणार्थ 'इनको' 'उनको' आदि रूप राष्ट्र भाषा की अपनी प्रकृति (हिन्दवी भाषा) के हैं और 'इन्हें' 'उन्हें' आदि पाञ्चाली भाषा के हैं। पाञ्चाली भाषा के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा को सर्वाधिक बल मिला है और दिल्ली से आगे (पूरब में) पाञ्चाली का क्षेत्र है। स्वभावतः पाञ्चाली के और परले में अवधी के शब्द इसमें मिलते थे। सो, 'इनका' 'उनका' के साथ साथ 'इन्हें' 'उन्हें' भी (राष्ट्रभाषा) में चलने लगे।[1] वैकल्पिक प्रयोग होने लगे। परन्तु आगे चलकर 'इन्हें' 'उन्हें' रह गए। द्विवेदी युग तक 'इन्हें' 'उन्हें' जैसे रूप चलते रहे। परन्तु राष्ट्रभाषा की प्रकृति ए की जगह 'ए' पसन्द करती है। इसलिए 'इन्हें' 'उन्हें' रूप रह गए—निखार हो गया। इसी तरह कर पर 'करेगा' जैसे प्रयोग भी होते। युग तक पहुँचकर आगे कर 'पढ़ करेगा' जैसे रूप सामने आ गए। प्रचार युग में—'उसके' 'उसका' 'उसे' और—इसके 'उसके' 'उसका', उसने या द्विविध प्रयोग लोग करते रहे। कोई 'इसके' लिखता था कोई 'इसके' लिए 'इसका' जैसे प्रयोग करते रहे, इसके जैसे रह गए। भाषाएँ

1 भारतेन्दु मण्डल विमर्श पृ० १७२
२ भाषाई चिन्तन और उसके सगा-साथी पृ० ६३

द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा यह सब काम किया—उसमें शब्दों को एकरूपता दी। द्विवेदी जी ने भाषा की प्रकृति पहचान ली थी।

परन्तु हम लोगों को यह न समझ बैठना चाहिए कि 'इस्के' 'उस्के' लिखने वाले सब मूर्ख थे। अच्छे अच्छे विद्वान, 'इस्के' 'उस्के' जैसे प्रयोग करते थे। उस समय तक यह निर्णय ही न हुआ था कि शुद्ध कौन सा रूप है? उर्दू में (फारसी लिपि में) जैसा लिखा जाता है उसको नागरी में 'इस्के' भी उतार सकते हैं और 'इसके' भी। रोमन लिपि में ISKE लिखा जाए तो 'इस्के' भी पढ़ा जा सकता है और 'इसके' भी। इनमें से शुद्ध कौन सा रूप है इसका निर्णय कौन करे? 'इस्के' लिखने वाले यदि 'इसके' जैसे रूपों को ही गलत बतलाते तो उत्तर में प्रमाण क्या दिया जा सकता था? कैसे कहा जाता कि 'इस्के' 'उस्के' उस्में गलत हैं और 'इसके' 'उसको' उससे शुद्ध है?

आज भी हिन्दी में—

छः लतायें, आयेंगी, जायेंगी, कन्यायें

और

छह लताएँ आएँगी, जाएँगी कन्याएँ या एक एक शब्द कई कई तरह से लिखा जाता है। बड़े बड़े हिन्दी डाक्टर भी छः लिखते हैं। कोई छह भी लिखता है। 'इस्के' और 'इसके' में उतना अन्तर नहीं जितना छः और छह में है। तब आज के हम लोग भी क्या आगे उपहासास्पद न होंगे? दो में से एक ही प्रयोग रह जाएगा। २+२=४ भी ठीक हो और २+२=५ भी ठीक हो, ऐसा नहीं हो सकता।

सच बात तो यह है कि 'इस्के' लिखने वाले क्षम्य हैं क्योंकि तब तक किसी ने व्याकरण या भाषा विज्ञान के आधार पर यह निर्णय ही न दिया था कि 'इसके' और 'इस्के' में शुद्ध कौन है और अशुद्ध कौन! व्याकरण का यह विषय भी नहीं है। व्याकरण तो 'का' 'की' का प्रयोग कहाँ करना चाहिए, कहाँ न करें, इतना भर बतलाएगा। 'इस' 'इस' पर वह कुछ न कहेगा। उस समय कोई व्याकरण हिन्दी का बना भी न था। भाषा विज्ञान का तो जन्म भी न हुआ था हिन्दी में उसको उतारना तो दूर की बात है। तो, जब कानून ही नहीं बना तो उस (आगे बनने वाले) कानून को भंग करने का अपराधी कोई (पहले का) कैसे घोषित किया जा सकता है?

जिन लोगों ने 'इस्के' 'उस्के' जैसे प्रयोग किए थे, उन्होंने हिन्दी की नींव लगाई, तन मन धन इसमें लगा दिया था—गला दिया था। उन्हें हिन्दी की कोई शिक्षा किसी ने न दी थी। आज हमें आरम्भ से ही हिन्दी की शिक्षा मिलती है। करोड़ों अरबों रुपए राष्ट्र के हमारी हिन्दी शिक्षा पर व्यय होते हैं। हिन्दी से हम धन भी कमाते हैं। भाषा विज्ञान भी बना चढ़ा है। व्याकरण भी एक से एक बढ़कर हैं।

भाषा का परिष्कार भी हुआ है। यह सब उस युग में कहाँ था? इतना कुछ होने पर भी हम अभी 'छ' और 'छह' जैसे अनेकविध रूप एक एक शब्द के चला रहे हैं। तो फिर हम लोग मूर्ख या उस समय के 'इस्के' लिखने वाले? कोई पूछे 'छ' लिखने में क्या तुक है? तो क्या कहा जाएगा? ऐसे ही 'इस्के' भी समझिए। प्रत्युत यहाँ गुरुतर अपराध है। भाषा विज्ञान का यह युग है और भाषा विज्ञान के विद्वान 'छ' शब्द लिखते हैं। कहो 'छ' सही है तो फिर ग्यारह बारह क्यों लिखते हो? तब तो ग्यार बार तेर जैसे शब्द लिखने चाहिए! तो मौन हो जाते हैं। कहो, ग्यारह की तरह छह भी लिखो तो भी चुप! परन्तु आग्रह 'छ' पर है! पूछो हिन्दी शब्द में में विसर्ग कैसे आ लगे तो भी मौन! तो आज के विद्वानों के 'छ' आदि शब्दों को देखकर आगे लोग क्या कहेंगे, जब 'छह' मात्र रह जाएगा? निःसन्देह वे लोग हम लोगों को मूर्ख न कहेंगे। कहेंगे उस समय 'छ' शब्द भी चलता था।

एक बात और है। अब तक हिन्दी में भाषा विज्ञान के जितने भी ग्रन्थ छपे हैं 'भारतीय भाषा विज्ञान' को छोड़ सबने 'इस' 'उस' 'पास' जैसे शब्दों को 'हलन्त' यानी व्यञ्जनान्त माना है। तब इस भाषा विज्ञान के युग में तो 'इस्के' 'उस्के' ही रूप शुद्ध ठहरते हैं और 'पास्के ऊपर' जैसे प्रयोग ही शुद्ध ठहरते हैं! कोई अन्त में अ का आगम करके 'इसके' 'उसके' आदि भी लिखे और तब भाषा विज्ञान ऐसे प्रयोगों को मान भी लें तो फिर ये द्विविध (वैकल्पिक) प्रयोग शुद्ध सही— 'इस्के' भी शुद्ध और 'इसके' भी शुद्ध। तब तो वहीं पहुँच गए न, जहाँ से चले थे! 'इसके' शुद्ध है 'इस्के' गलत? यह निर्णय अपनी भाषा विज्ञान से होगा। 'इस्के' छोड़कर 'इसके' रूप का चलन वैज्ञानिक है।[1]

भारतीय भाषा विज्ञान में आचार्य वाजपेयी ने यह निर्णय दिया है कि हिन्दी के अपने शब्द तो सब कुछ स्वरान्त हैं—यहाँ कोई भी शब्द व्यञ्जनान्त नहीं है।[2] यानी पिछले पचास वर्षों में भाषा विज्ञानियों ने जो एक स्वर से निर्णय दिया था कि हिन्दी में जो अकारान्त शब्द कहे जाते हैं वे सब 'हलन्त' (व्यञ्जनान्त) हैं, उसके विरुद्ध आचार्य वाजपेयी का निर्णय है और इस निर्णय से 'इसके' 'उसके' और 'इसमें' शुद्ध सिद्ध होता है। हमें उनका मत समीचीन प्रतीत होता है।

वाजपेयी जी ने अपने कथन में जो तर्क और प्रमाण दिए हैं उनकी कुछ झलक दीजिए। वाजपेयी जी का कहना है कि हिन्दी ने अपना कोई प्रातिपदिक धातु या शब्द व्यञ्जनान्त नहीं रखा है। संस्कृत में 'मनस्' प्रातिपदिक है और 'मन

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १९६
२ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० ७१८

'मनांसि' 'मनस' आदि उसके पद'। हिन्दी को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार्य नहीं, इस लिए मनस' के 'स' को हटाकर मन अपना प्रातिपदिक बना लिया।

संस्कृत का 'मनस' व्यञ्जनान्त और हिन्दी का 'मन' अकारान्त। मन को' मन ने' मन से' आदि यहाँ पद हैं। इसी तरह 'नमस्' का नभ और 'पयस' का पय आदि समझिए। 'मनस् को' या 'मनस्को' जैसे पद हिन्दी में नहीं, क्योंकि यहाँ मन प्रातिपदिक है। यदि हिन्दी की प्रकृति को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार्य होते, तो 'मनस' प्रातिपदिक यहाँ होता और तब 'मनस्को' 'मनस्के' जैसे पद होते। तब फिर 'उस्के' 'उस्को' भी ठीक समझे जाते, और वे ही चलते। तब फिर 'उमका' 'उसका' जैसे रूप सामने न आते। परन्तु वैसा होता कैसे? हिन्दी की प्रकृति ने तो व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक स्वीकार ही नहीं किए। इसलिए इस्के' 'उस्के' रूप उड़ गए और अपनी प्रकृति के 'इसके' 'उसके' रह गए। निखार हो गया। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'—सब अपनी प्रकृति का ही अनुधावन करते हैं।

इसके शुद्ध होने में विकास पद्धति भी प्रमाण है। एष के विसर्ग हटा कर ष को 'स' लोक भाषा ने कर लिया—एस'। यह 'एस' हिन्दी का प्रातिपदिक है, अकारान्त। ए को 'य' और 'स' को 'ह' होकर 'यह' पद है। जब कोई प्रत्यय विभक्ति आगे हो तो 'ए' को 'इ' हो जाता है—इसने' 'इसको' 'इसमें' आदि पद। संस्कृत के 'एष' का 'ष' अकारान्त है। तभी तो विसर्ग आगे है। विसर्ग हटा कर वह 'एष' यहाँ 'एस' है जिसके पद हैं—इसके' आदि। यहाँ व्यञ्जनान्त की कोई बात ही नहीं, तब 'इस्के' 'इस्से' रूप कैसे टिकते।

यही बात 'उसके' लिए भी है। यह और इसके आदि देखकर 'वह और उसके' आदि बने। वर्णानुक्रम से पहले 'यह' समीप के लिए और फिर 'वह' दूर के लिए। इसी तरह 'ई' के बाद 'उ'। 'इसके' समीप के लिए 'उसके' दूर के लिए। यहाँ वह' आदि पदों का प्रातिपदिक भी देख लीजिए। 'एस' को देखकर 'ओस' प्रातिपदिक बना। सौ' का वर्ण-व्यत्यय से रूप ओस=ओस। इस 'ओस' को हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार स्वरान्त कर लिया। जैसे धनुष का रूप 'धनुष'। फिर 'ओ' को 'व' और 'स' को 'ह'—'वह' पद। प्रत्यय विभक्ति सामने होने पर 'ओ' को 'उ'—'उसका' 'उसको' 'उसने' आदि पद।

पजाबी भाषा की स्थिति भी यही है, पर वहाँ 'ओ' को 'उ' नहीं होता—ओस दा मुंडा, 'ओस दी कुड़ी' (उसका लड़का, उसकी लड़की)।

इस तरह भाषा विज्ञान के आधार पर सब स्पष्ट है। हम भी इससे सहमत हैं।

जो बात 'इस' 'उस' आदि के संबंध में कही गई है, वही 'इन' 'उन' आदि के लिए भी समझिए। बोलने में कहीं अन्त्य 'अ' स्पष्ट सुनाई देता है कहीं नहीं। प्रदेश भेद से उच्चारण भेद होता है। परन्तु लिखावट में एकरूपता रहती है। इसीलिए

'इन्हें' 'उन्हें' रूप वहाँ भी नहीं चलते। जहाँ 'इन' का उच्चारण 'इन' जैसा होता है। 'भगवन्त नमामि' सर्वत्र ऐसा ही लिखा जाता है, यद्यपि 'ष' का उच्चारण उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा दक्षिण भारत में भिन्न भिन्न है। 'ष' सर्वत्र इसी रूप में लिखा जाता है यद्यपि उच्चारण प्रदेश भेद से भिन्न भिन्न है। अंग्रेजी में कितने ही शब्दों में अनेक वर्ण एकदम उच्चरित नहीं होते तो भी लिखे जाते हैं। इसी तरह 'इत्यादि'। आदि पद हिन्दी में लिखे जाते हैं उच्चारण भले ही कहीं अन्त्य 'अ' का न हो। हिन्दी ने किसी भी अपने प्रातिपदिक या धातु आदि के अन्त में स्वर हीन 'न' स्वीकार नहीं किया है। संस्कृत 'कमन' प्रातिपदिक के 'न' को अलग करके 'कम' अपना प्रातिपदिक बना लिया अकारान्त। यदि 'इन' स्वीकार होता तो 'कमन' प्रातिपदिक यहाँ होता और फिर 'कमन का' जैसे पद बनते। 'राजन' प्रातिपदिक में 'न' देखकर हिन्दी ने संस्कृत पद 'राजा' को लेकर अपना प्रातिपदिक बना लिया— राजा का आदि पद। 'राजन' प्रातिपदिक के 'न' का लोप कर के हिन्दी ने एक अपना पृथक प्रातिपदिक बनाया — 'राज'। उसका वहीं 'राज' है राज—शासन। राज्य का विकास 'राज' पृथक है। बीरगंज नेपाल राज में है या भारत में, हमें पता नहीं।

सन् १९०२ तक 'उस्में' 'इस्में' जैसे प्रयोग चलते रहे। कोई साधारण जन नहीं, पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेवबिहारी मिश्र जैसे कृतविद्यजन ऐसे प्रयोग करते रहे। यह सब सरस्वती की प्रतियों में तथा उनकी पाण्डुलिपियों में देखा जा सकता है। यह सब सामग्री काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। आचार्य द्विवेदी (सम्पादक जी) 'उस्में' की जगह 'उसमें' और 'इस्में' की जगह 'इसमें' कर के छपने को देते थे। इस तरह सरस्वती परिष्कार का युग सन् १९०५ से प्रारम्भ होता है। सन् १९०३ में ही आचार्य द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हुए थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी की स्थिति और प्रगति के निदर्शनार्थ उस समय के प्रमुख साहित्यिकों की भाषा देखना होगा। उनकी कृतियों [illegible] उद्धरण देकर हम यहाँ दिखाएँगे कि उस समय की भाषा [illegible] और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की भाषा में क्या अन्तर है। इस प्रथम चरण का पूर्वार्द्ध एक तरह से मिश्रित काल है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का और इस युग की भाषा का सन्धि स्थल है। सन् १९०५ से हिन्दी प्रगति इस रूप में चली जो आज हम देख रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के जो उद्धरण हम देंगे उनमें संस्कृत (तत्सम या तद्भव) शब्दों के प्रयोग पर विचार न करेंगे। वे सब यथास्थान (प्रसंगानुकूल) समझे जाते हैं। [illegible] के प्रवाह में [illegible] नहीं। [illegible] के [illegible] है। [illegible] की कृतियों में [illegible] गया है। [illegible] विश्वविद्यालयों में [illegible]

म स्वीकृत हैं। श्री भगवती चरण वर्मा जस लोग भी भिन्न लिखत हैं[1], लिख गए है झपाट स। बात यह हुई कि 'वे इस विषय से अनभिज्ञ हैं' एसे वाक्यों म 'अनभिज्ञ' का अर्थ समझा, ठीक। पर तु 'अन' ने धोखा दे दिया। 'अन' को लोगों ने निषेधा थक समझ लिया और उसे हटा कर 'भिज्ञ' बना लिया। समझे जैसे अस्थिर को अनस्थिर रूप म कही विन्यास हो गया उसी तरह अभिज्ञ की जगह अनभिज्ञ है। भी अन को हटाकर 'भिज्ञ' ले लिया। इसी तरह श्मशान को लोग स्मशान' लिख रहे हैं। नवम को नवम षष्ठ' को 'षष्ठम' कर देना तो मामूली बात हो गई है। परन्तु इनके एसे प्रयोगों से इस युग की भाषा की स्थिति का ज्ञान आगे के लोग न करेंगे। समझ लगे कि य व्यक्तिगत गलतियाँ हैं।

भाषा विकास या भाषा परिष्कार के विवेचन म ऐसी चीजें नहीं आती। देश भेद या काल भेद से शब्द म जो परिवर्तन होता है, उसी पर विचार किया जाता है। व्यक्तिगत अज्ञान या असामर्थ्य के कारण जो शब्द म परिवर्तन होता है वह विकार है। उस विकार को दूर करना सशोधन है। आचार्य द्विवेदी न ऐसे सशोधन करने मे एक युग लगा दिया और लोग शुद्ध हिन्दी लिखने लगे। साधारणत इस तरह के सशोधन को भी परिष्कार म गिन लेते हैं यह अलग बात है। इसी तरह रामसे कहो—राम से कहो लताए 'लतायें' आदि पर विचार करना भाषा परिष्कार मे आ जाता है यद्यपि यह भाषा का नही लिपि विन्यास का विषय है। भाषा कान का विषय है। रामसे और राम से दोनों का उच्चारण एक ही सुनाई पड़ेगा। पर तु परिष्कार साहित्यिक भाषा का होता है और साहित्य कागज पर लिपि रूप मे उत रता है, इसलिए य लिखावट की बातें भी 'भाषा-परिष्कार' म आ जाती हैं।

मैं पुरान साहित्य के उद्धरणों मे उन्नीसवी शताब्दी की हिन्दी देखिए। यहा हम हिन्दी के ही उद्धरण देंगे उसी के परिष्कार पर विचार करना है। लोगों ने हिन्दी सघ की सभी भाषाओं को हिन्दी नाम से ही अभिहित किया है। हिन्दी कहने स सघ की सभी भाषाओं का बोध हो ही जाता है। परन्तु सब भाषाएँ स्वरूपत भिन्न हैं। हिन्दी से हमारा मतलब राष्ट्रभाषा स है। श्री गोसाइ जी के दर्शन करिक प्रद्युन दास की अँखिन सों अँसुअन को प्रवाह चल्यो' यह ब्रजभाषा है और 'रावजोधी गया जी जात पधारिया। आगरा री पा खती नौसरिया' यह जोधपुरी राजस्थानी है। 'काजर की भीति तेल सींचलि अइसनि राति' यह मैथिली भाषा है। इन सबके परिष्कार की चर्चा हम अभी न कर के परिनिष्ट रूप म अ तम अध्याय म करेंगे।

भारतेन्दु युग के लेखक भी उसी पटरी पर चलत दिखाई देत हैं। कहीं कुछ नाम मात्र का परिवर्तन हुआ हो यह अलग बात है। कभी-कभी तो एसा भी लगता है कि इस युग की भाषा पूर्व युग स भी ढीली-ढाली हो गई है। परन्तु यह सब लेखक

१ भारतीय भाषा विज्ञान

विशेष की बात है। एक ही युग का कोई लेखक विशेष सावधानी से शब्द प्रयोग करता है और दूसरा विशेष ध्यान नहीं रखता भटक जाता है। इससे युग की भाषा प्रवृत्ति का निर्णय नहीं होता। सावधान लेखक की भाषा देखकर ही युग भाषा का निर्णय किया जाता है। कभी-कभी सावधान लेखक से भी कोई प्रामादिक प्रयोग हो जाता है। उसके उस प्रयोग से भी युग भाषा का निर्णय नहीं होता। प्रवाह देखा जाता है। इधर तो इधर उधर भी हो जाती है।

भारतेन्दु युग में भाषा का—राष्ट्रभाषा का—एक और रूप प्रकट हुआ। पहले कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज में अंग्रेज विद्वान अधिकारियों के प्रोत्साहन से राष्ट्रभाषा अपने प्रकृत रूप में आई। उसने विदेशी पाजामा-कुरता (फारसी लिपि) की जगह अपनी भारतीय साड़ी (नागरी लिपि) स्वीकार की और विदेशी रंग-ढंग छोड़कर भारतीय पद्धति स्वीकार की। फारसी अरबी के शब्द छोड़ दिए गए। यह सब स्वीकार किया गया यह श्री हुमा अल्ला खां की भाषा प्रतिज्ञा से प्रकट है।

परन्तु हिन्दी के इस प्रकृत रूप में राष्ट्रीयता का बल मिलने लगा। राजा राम मोहन राय और श्री बंकिम चन्द्र चटर्जी जैसे बंगाली महाविद्या ने हिन्दी को सम्पूर्ण राष्ट्र की व्यवहार भाषा बनाने का विचार प्रकट किया। गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसी भाषा और लिपि के लिए प्रयत्न किया। बंगाली विद्वान श्री नवीन चन्द्र राय ने पंजाब में हिन्दी का प्रचार किया। काशी में बाबू हरिश्चन्द्र ने घोषणा की—

धार के सिरमौर थे। बाबू हरिश्चन्द्र भी वयस्य और बाबू शिवप्रसाद से ही बहुत कुछ हिन्दी की प्रेरणा आपने प्राप्त की थी। बाबू शिव प्रसाद की भाषा और बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा प्राय एक सी मिलती है। परन्तु बाद में बाबू शिव प्रसाद बदल गए। वे सरकारी शिक्षा विभाग में अधिकारी थे। सरकारी रुख से आपने हिन्दुस्तानी का समर्थन किया और हिन्दी उर्दू का फिर से मिलान का उपक्रम हुआ। अब बाबू साहब हिन्दुस्तानी लिखने लगे जो उर्दू ही है। सरकार ने इन्हें 'राजा' का खिताब दिया और 'सितारे हिन्द' (स्टार आफ इण्डिया) घोषित किया। राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द के इस उलट फेर से बाबू हरिश्चन्द्र प्रभावित नहीं हुए अपने पक्ष पर डटे रहे और हिन्दी के प्रकृत रूप के ही उपासक रहे। सितारे हिन्द के पक्ष का आपने डटकर मुकाबला किया और तब हिन्दी प्रेमी जनता ने आपको 'भारतेन्दु' का पद दिया। भारत भास्कर न कहकर भारतेन्दु कहने में कारण अंग्रेज सरकार का दिया हुआ 'सितारे हिन्द' मेडल था जो हिन्दुस्तानी के समर्थक को चमका रहा था। हिन्द नक्षत्र के जवाब में जनता ने 'भारतेन्दु' पद रखा। सितारे हिन्द' में जहाँ उर्दू का रूप है 'भारतेन्दु' में हिन्दी की छवि है। भारत और इन्दु का समास संस्कृत पक्ष का सूचनाय है। फिर 'भारतेन्दु' ने हिन्द नक्षत्र को निष्प्रभ कर दिया। हिन्दी का समर्थन सम्पूर्ण देश ने किया।

'हिन्दुस्तानी' का मुर्दा उस समय दफना दिया गया, जो कि आगे चलकर सन् १९३५ के इधर उधर फिर उखाड़ा गया। सन १९४८/० में हिन्दुस्तानी मुर्दे की गंध बड़े उग्र रूप में फैली। यह सब राष्ट्रभाषा का इतिहास देखने से स्पष्ट हो जाता है। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने इस पुस्तक में यह सब ब्योरेवार विस्तार से लिखा है और बताया है कि देश स्वतन्त्र हो जाने पर संविधान बनने के समय तक हिन्दुस्तानी ने कैसा ऊधम मचाया और किस तरह के संघर्ष में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन के मनत्व में हिन्दी की विजय हुई। संविधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा (राजभाषा) स्वीकृत हो जाने के बाद भी बहुत दिन तक हिन्दुस्तानी के समर्थक बड़बड़ाते रहे। बहुत सब लिखकर और उद्धरणों की भरमार करके हम यहाँ पृष्ठ न बढ़ाएंगे। हिन्दी परिष्कार से उन बातों का कोई सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। 'पुस्तक पढ़ी जायगी' और 'किताब पढ़ी जायेगी' में केवल 'जायगी' पद भाषा परिष्कार की दृष्टि से विचारणीय है। कहा जायेगा 'जायगा' रूप गलत है, 'जाएगा' शुद्ध है। उर्दू में 'जायगा' 'जावेगा' 'जाएगा' आदि रूपों में से कौन चलता है इस पर विचार नहीं। विचार तो हिन्दी रूपों पर है और ये सब रूप हिन्दुस्तानी में भी इसी तरह चलते हैं। जब पहले इससे और इसके साथ साथ चलते थे, कोई शुद्धाशुद्ध विवेक न था जैसे तरह आज 'जायगा' 'जायेगा' 'जाएगा' जैसे रूप चलते हैं। जैसे कि आज 'नन्म' 'दुम्ब' आदि देखकर लोग हँसते हैं उसी तरह आगे 'जायगा' 'जायगा' आदि स्वरूप ... तक उधर ध्यान ही नहीं तब तक सब ठीक।

आगे ध्यान दिया जाने लगा और इस सबंध म आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' ने सब से अधिक काम किया।

संधि-काल म शब्दो के शुद्ध प्रयोग पर भी ध्यान दिया जाने लगा था और पत्र पत्रिकाओ मे ऐसी चर्चा भी निकलती थी। शेष का अर्थ 'बचा हुआ', था प्रतीत होता है।

किसी ने अन्त के अर्थ म इसका प्रयोग कर दिया, तो दूसरे ने पकड़ा, विवाद छिड़ा। लोग दो घड़ो म विभक्त हो गए। खूब लिखा-पढ़ी चली। इसी तरह 'अस्थिर' की जगह किसी ने अनस्थिर लिख दिया, तो उसे दूसरे लोगो ने पकड लिया और जम कर वाग्युद्ध हुआ। आज कल तो इतने अधिक गलत शब्द प्रयोग होते हैं कि जिस का कोई ठिकाना नही[1] किस किस को कोई देखे और कहां उन पर चर्चा चलाने को जगह है। ये सब व्यक्तिगत शब्द प्रयोग हैं। भाषा के प्रवाह पर विचार करना है।

संधि काल म भाषा पर विचार करने वाला के दो गढ थे—कलकत्ता और काशी। आचार्य द्विवेदी ने प्रयाग और कानपुर को भी वैसा ही महत्त्व दे दिया था। प्रयाग से 'सरस्वती' निकलती थी और कानपुर म बैठ कर द्विवेदी जी उसका सम्पादन करते थे। कलकत्ते वाले हिंदी को संस्कृत पद्धति पर चलाना चाहते थे और काशी प्रयाग मे उर्दू की ओर लाग देखते थे। उत्तर प्रदेश उस समय उर्दू का गढ था और राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद ने वैसी कुछ प्रेरणा भी दे दी थी।

कलकत्ते से उस समय हिंदी बंगवासी और भारत मित्र ये दो (साप्ताहिक) समाचार पत्र ऐसे निकलते थे जिनकी बडी धाक थी। यहां हिंदी को संस्कृत-पद्धति पर चलाने का उद्योग हो रहा था—

स्टेशन स्टाफ स्टोर, काग्रेस मजिस्ट्रेट आदि शब्दो को हिंदी बंगवासी म—'ष्टेशन ष्टाफ ष्टोर कंगरेस मजिष्टर जैसे रूपो म लिखा जाता था। भारत मित्र मे 'कंगरेस तो नही पर मजिष्ट्रेट ष्टाफ मास्टर आदि चलते थे'। बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिंदी बंगवासी' से ही भारत मित्र मे गए थे और वहीं से ष्टाफ' आदि उनके साथ चले गए थे। आगे चल कर ष्टेशन' वाली संस्कृत संधियो की पद्धति समाप्त हो गई।

बंगवासी मे ही सम्पादक मण्डल ने हिन्दी की 'ने' 'को' आदि विभक्तियो को प्रातिपदिक से सटा कर लिखने का आन्दोलन शुरू किया था। इस पर भी अच्छा वाद विवाद हुआ था। लोग यहां भी दो दलो म विभक्त हो गए थे। उत्तर प्रदेश आदि म विभक्त लिखने पर जोर दिया था। आचार्य द्विवेदी इस विवाद म न पड़े थे—कह दिया था कि जिस को जिस तरह सुभीता हो लिखे इससे भाषा भेद नहीं होता।

---

१ गुप्त निबन्धावली—प० गौरीदत्त पृष्ठ ३२

'राम को नमस्कार' और 'रामको नमस्कार' इन दोना को पढने वाला समान रूप से पढेगा, कोई अतर न पडेगा। आज भी हिन्दी ससार म दोना पद्धतियाँ चल रही हैं। इनम से से अधिक अच्छी पद्धति कौन सी है, इस पर आगे विचार किया जाएगा।

उत्तर प्रदेश मे उर्दू की ओर भी लोग देखत थे। यहा हिंदी म फारसी आदि के शब्द अधिक चलने लगे थे और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह भी निणय दे दिया था कि 'गरीब आदि न लिख कर 'ग़रीब' आदि लिखा जाया कर। 'सरस्वती' का प्रकाशन सभा के ही समथन अनुमोदन से हुआ था, इसलिए यह नियम भी कर दिया गया था कि सरस्वती म प्रकाशनाथ जो लेखक लेखादि भेजें वे फारसी आदि के शब्दों को नीचे बिन्दी लगा-लगा कर शुद्ध लिखें, अशुद्ध 'गरीब आदि नही।

'सभा के इस निणय का विरोध बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया था'। गुप्त जी उर्दू फारसी के जानकार ही नहीं, प्रौढतम विद्वान थे और हिन्दी म आने से पहले उर्दू के सुप्रसिद्ध अखबार 'कोहेनूर' तथा अवध पच के प्रधान सम्पादक रह चुके थे। महर्षि प० मदन मोहन मालवीय उन्हे हिन्दी मे खीच लाए थे। सो, उर्दू फारसी के इस धुरधर विद्वान के उस विरोध म बडा बल था परन्तु हिंदी वालो पर असर न पडा। उस समय तो 'गरीब और ग़रीब' के दो धडे हो गए थे, पर आगे 'गरीब' वाला ही रास्ता जोर से चला। बहुत गडबडी मची और तब सन १९३५-३६ मे आचाय वाजपेयी न स्व० बालमुकुन्द वाली पद्धति का समथन करके हिंदी की राह खुली। अब भूले भटके कोई 'ग़रीब के रास्ते भले ही चला जाए, सम्पूण हिन्दी जगत् पहले माग पर हो है। यह सब आगे विस्तार से समझाया जाएगा।

बस, यहाँ इससे अधिक और कुछ रहने की जरूरत नही है। अगले अध्यायो का यह सब विषय है। किसी चीज का पिष्ट-पेषण ठीक नहीं।

सन १९१० से १९२० तक आचाय द्विवेदी ने जम कर 'सरस्वती के द्वारा हिन्दी सस्कार का काम किया। प्रारभ तो सन १९०५ से ही कर दिया था।

सो १९०५ से १९२० तक हिन्दी परिष्कार का एक युग समाप्त हुआ। इस के अनन्तर आचाय द्विवेदी सरस्वती से बिदा लेकर अपने गाँव, दौलतपुर (रायबरेली) जा बठे, तरह तरह के दिमागी रोगो न उन्हें आ घेरा। इस समय हिन्दी मे फिर अराजकता ने सिर उठाया। तब प० किशोरीदास वाजपेयी ने कलम उठाई, पत्र-पत्रिकाओं मे लेख लिखे। आचाय द्विवेदी ने वाजपेयी को आशीर्वाद दिया और सन १९३० से १९६० तक आचाय वाजपेयी न इस दिशा म विशेष काम किया।

१ भारत मित्र—१९०७ १९०० प्रक

दूसरा अध्याय

हिन्दी-परिष्कार का आरंभ

पहले अध्याय में देखा गया कि हिन्दी का निखार किस तरह कहाँ तक हुआ। इस अध्याय में उसके परिष्कार की चर्चा की जाएगी।

तथ्य की बात तो यह है कि हिन्दी का रूप स्वतः परिष्कृत है जैसे कि 'गंगोत्री' से ऊपर गोमुख से निकली हुई गंगाजी की धारा। आगे आगे प्रयोग करने वालों ने जब कुछ विकार पैदा कर दिया, तो दूसरों ने उसका परिष्कार किया। परन्तु जिसे हम यहाँ विकार कह रहे हैं, वह उन लोगों की दृष्टि में परिष्कार ही था। 'स्टेसन' को 'स्टेशन' और उससे को 'उसे' लिखने चलाने वाले हिन्दी के शत्रु न थे, न अज्ञानी ही। उन लोगों ने हिन्दी की सेवा में अपना सर्वस्व चढ़ा दिया था, उम्र गला दी थी। वे बड़े-बड़े विद्वान थे, साधारण जन न थे। 'गरीब' को 'गरीब' के रूप में चलाने वाले बड़े-बड़े हिन्दी के आचार्य थे, जिनके अनवरत परिश्रम से—काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जन्म लेकर ऐसा विशाल रूप प्राप्त किया कि वह हिन्दी की सर्वमान्य संस्था बन गई, जिसने हिन्दी साहित्य को गंभीर रूप दिया। राष्ट्रीय की जगह 'राष्ट्रिय' रूप चलाने का उपक्रम जिन्होंने किया उनमें आचार्य पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे हमारे महान् पूर्वज भी हैं। डा० सम्पूर्णानन्द और बाबू रामचन्द्र वर्मा जैसे विद्वानों ने 'राष्ट्रिय' और 'अन्तराष्ट्रिय' रूप चलाए। ये सब हमारे पथ प्रदर्शक हैं। इन्हीं सब के अध्यवसाय का फल है कि आज हिन्दी को वह स्थान प्राप्त है, जिसकी कल्पना भारतेन्दु, स्वामी दयानन्द तथा बंकिम बाबू जैसे तत्त्वदर्शियों ने की थी। यह अलग बात है कि हिन्दी की प्रकृति ने क्या ग्रहण किया, क्या नहीं और आगे उसे क्या स्वीकार होगा और क्या नहीं। परन्तु यह पक्की बात है कि कोई भी भाषा अपनी प्रकृति पर जाती है। प्रकृति विरुद्ध अच्छी से अच्छी चीज भी गृहीत नहीं हो सकती। अच्छी चीज वही है जो प्रकृति के अनुकूल हो। भाषा अपने प्रवाह पर जाती है। परिष्कार की चर्चा करने चलाने से पहले यह इतना समझ लेना जरूरी है।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनाम आदि

कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से संज्ञाएँ आवश्यकता के अनुसार ले लेती है, कभी कोई विशेषण भी, परन्तु सर्वनाम सदा अपने ही रहते हैं। क्रियाएँ भी अपनी

हो रहती हैं। हिन्दी के विशेषण अपने भी पर्याप्त हैं और संस्कृत तो सभी भारतीय भाषाओं के लिए कामधेनु है ही। परन्तु क्रियाएँ संस्कृत की भी ग्रहीत नहीं। 'रमा पढ़ती है' की जगह 'रमा पठति' कभी भी हिन्दी में न होगा। भाषा क्रिया प्रधान होती है। 'रमा पठति' तो सम्स्कृत भाषा हो गई। 'बालक ने कार्य किया' यहाँ 'बालकेन' न होगा। विभक्ति अपनी रहती है।[१] 'कायम' भी न होगा। यह संस्कृत विभक्ति है। क्रिया की जगह 'कृतम' तो हिन्दी कभी भी न करेगी। विशेषण हिन्दी में अपने हैं और संस्कृत से लिए हुए हैं। या फिर अपनी एशियाई भाषाओं के (फारसी, आदि के) कुछ विशेषण कहीं ले लिए हैं पर दूर की पाश्चात्य भाषाओं के विशेषण नहीं लिए हैं। संज्ञाएँ ली हैं। हमारी हिन्दी की भी संज्ञाएँ 'घी' 'धोती' आदि अंग्रेजी में गई हैं। अंग्रेजी की संज्ञाएँ—

'स्टेशन' 'कोट' 'बटन' आदि हिन्दी में आई हैं। कोई भी भाषा जब परकीय संज्ञा लेती है तो अपनी प्रकृति का ध्यान रखती है। 'कोट' 'बटन' 'स्टेशन' आदि तद्रूप ग्रहीत हैं पर 'लैन्टन' का 'लालटेन' रूप दे दिया गया है। हमारी 'गंगाजी', अंग्रेजी में 'गैंजिज' बन गई हैं यद्यपि 'धोती' ज्यों की त्यों है वहाँ।[२]

परकीय संज्ञाओं को कोई भाषा अपनी ही प्रकृति के अनुसार ढालती है किसी अन्य भाषा की प्रकृति के अनुसार नहीं। कलकत्ते के हिन्दी प्रेमी संस्कृत प्रकृति के अनुसार—

'स्टेशन' को 'ष्टेशन' न बना सके, कारण यह कि 'ट' के साथ 'ष' ही रह सकता है, 'स्' नहीं, यह संस्कृत भाषा का नियम है, हिन्दी का नहीं। यदि संस्कृत में 'स्टेशन' शब्द ग्रहीत हो जाए तो वहाँ अवश्य 'स्टेशन' का रूप 'ष्टेशन' हो सकता है पर हिन्दी में नहीं। हिन्दी की वर्णमाला में 'ष' अवश्य ग्रहीत हैं, पर यह संस्कृत के तद्रूप (कष्ट नष्ट, भ्रष्ट आदि) शब्दों के लिए। हिन्दी का अपना कोई शब्द (प्रातिपदिक, अव्यय, धातु आदि) ऐसा न मिलेगा, जिसमें 'ष' का सन्निवेश हो। 'ष्' को हिन्दी ने 'स' कर लिया है और फिर कहीं उस 'स' को 'छ'। हिन्दी को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार नहीं संस्कृत के तद्रूप शब्दों की अलग बात है। संस्कृत का एक संख्या वाचक प्रातिपदिक है—'षष्'। इसी के 'षट' 'षष्ठ' आदि पद बनते हैं। हिन्दी ने 'षष' को 'सस' कर लिया। 'ष' को 'स' करके अकारान्त रूप।[३] फिर प्रथम 'स' को 'छ' और अंतिम को 'ह' करके अपना संख्या वाचक शब्द—छह। इसी को उच्चारण साम्य से लोग 'छः' अब तक लिख जा रहे हैं, बड़े-बड़े भाषा विज्ञानी भी। सन् १९४२-४३ में आचार्य वाजपेयी ने अपने 'ब्रजभाषा का व्याकरण' के परिशिष्ट में

१ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ९२
२ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० ९०
३ ब्रजभाषा का व्याकरण—आचार्य वाजपेयी पृ० २८१

बतलाया कि शुद्ध रूप छह' है 'छ' गलत है। संस्कृत में 'स' को विसर्ग का रूप मिल सकता है, हिन्दी में नहीं। हिन्दी संस्कृत के तद्रूप प्रायः आदि शब्दों में ही विसर्गों का प्रयोग करती है अपने शब्दों में नहीं, इसीलिए दस के स को 'ह' करके ग्यारह बारह तेरह आदि रूप बने, ग्यार' आदि नहीं। 'ह' की जगह विसर्ग देने की प्रकृति यहाँ तक बढ़ी कि 'बेहूदा' को बेहूदः' तक लिखा जाने लगा था। अभी आगे स्पष्ट किया जाएगा कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह निर्णय दिया था कि फारसी आदि के शब्द हिन्दी में शुद्ध रूप से लिखे जाया करें। सो बेहूदा शब्द की जगह बेहूदः चला। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तक ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है।[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, जैसे ग्रन्थ में बेहूदः जैसे प्रयोग है। मिश्र बन्धुओं की काव्यालोचन पद्धति को शुक्ल जी ने बेहूदः बतलाया है। हिन्दी शब्दसागर में तज्मः' तमन्ना आदि के मूल रूप तज्मः' तमन्नः आदि बतलाए गए हैं।[2] आचार्य वाजपेयी ने विस्तार से इस प्रकृति का खंडन करके बतलाया है कि विसर्ग केवल संस्कृत भाषा की चीज है अन्य किसी भी भाषा की नहीं। फारसी के वैसे शब्दों में ह है इसलिए तद्रूप शब्द नागरी में लिखने चाहिए— बेहूदह, तज्महः तमन्नह, आदि। तब से यह प्रवृत्ति तो हटी, पर छः अभी तक लोग लिख रहे हैं परन्तु प्रबुद्धजन अब छह का ही प्रयोग करते हैं। छमाही में 'ह' का लोप हो जाता है जैसे कि 'तिमाही' में न का।

सो हिन्दी से 'बेहूदः' गया छः भी जा रहा है। विसर्ग हिन्दी में ग्रहीत नहीं।

इसी तरह 'ष्टेशन' ष्टोर आदि नहीं चले यद्यपि कलकत्ते जैसे गण्यमान्य जनों ने चलाए थे। हिन्दी के राज में अंग्रेजी का सिक्का कैसे चलता? यहाँ अपना नियम है अपना अधिनियम है। बहुत सी बातें संस्कृत की भी हैं परन्तु अपने संविधान के विरुद्ध कोई चीज न ली जाएगी। हिन्दी का संविधान ष तथा विसर्ग जैसी चीजों के पक्ष में नहीं है। हाँ, संस्कृत के प्रायः जैसे नागरिक यहाँ आकर अपने रूप में रह सकते हैं—रहते हैं। ष्टेशन आदि की ही तरह संस्कृत की पद्धति पर 'कम्पटर' आदि को कण्डक्टर जैसा लिखने की पद्धति भी उसी समय कलकत्ते में चली थी। ष्टेशन आदि तो उड़ गए परन्तु यह ण्ट तथा ण्ड लिखने की प्रकृति आज भी कहीं कहीं देखी जाती है। काशी का आज इसी प्रवृत्ति का है। सम्पादकाचार्य पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर कलकत्ते से काशी आ गए थे जब 'आज' का प्रकाशन हुआ। इस पत्र के पराड़कर जी प्रधान सम्पादक रहकर हिन्दी की प्रचुर सेवा की पर कलकत्ते वाला 'परमवण' का सिद्धान्त हिन्दी के गले न उतार सके यद्यपि आज

१ मानदण्ड निर्माण पृ० ६०—आचार्य वाजपेयी
२ हिन्दी शब्द सागर—प्रथम संस्करण नागरी प्रचारिणी सभा।

अब तक उनके द्वारा प्रतिष्ठापित उसी पद्धति पर चल रहा है। हिन्दी के 'डडा' आदि शब्द भी आज भी 'डण्डा' जसे रूपो मे चलते हैं और 'तमचा' आदि 'तमन्चा' रूपो म। ढग वहा ढङ्ग हो जाता है। अपना सम्प्रदाय है।

आचाय द्विवेदी ने 'स्टेशन' और 'कण्डक्टर' वाली पद्धति का विरोध किया था और यही कारण है कि वह दृढ न रह सकी। उनके पास 'सरस्वती' का बल था और वह हिन्दी शब्दो की प्रामाणिक टकसाल समझी जाती थी। परन्तु कलण्डर कण्डक्टर जैसे शब्द प्रयोग पहले स्वय द्विवेदी जी भी करते थे ऐसा उन्ही के एक लेख से जाना जाता है। नवम्बर सन १९०५ म उन्होने भाषा शुद्धि पर एक लेख लिखा था जिसम ये पक्तिया भी हैं—सच तो यह है कि गलती कौन नहीं करता। भाषा की अपरिपक्व दशा म तो यह बात और भी अधिक सम्भव है। हमने अपने पहले लेख म लिखा है कि विदेशी शब्दो म णत्व विचार की जरूरत नहीं पर जब हम इण्डियन प्रेस लिखने लगते हैं तब उस बात को बहुधा भूल जाते हैं और इण्डियन लिख जाते हैं यह पूर्व अभ्यास का फल है।'

जसा कि पहले कहा गया है 'ण' तथा परसवण संस्कृत की चीज हैं हिन्दी की नहीं। परन्तु हिन्दी ने सस्कृत नियमो की अवज्ञा नहीं की है। ट या टवग के किसी भी वण का स' के साथ मिलाया नहीं है परकीय कस्टम स्टेशन आदि शब्द जरूर लिए है। 'ष' अपने गठन म स्वीकार नहीं इसीलिए काष्ठ का रूप काठ' कर लिया। ष को स करके कास्ट' नहीं बनाया। मिष्ट' को मीठ' मीठा बना लिया मिस्ट नहीं बनाया। सस्कृत नियम की अवज्ञा नहीं पर ष स्वीकार नहीं। अपने 'लस्टम पस्टम' जसे एकाध शब्द ह जो अलग चीज है।

इसी तरह डडा जसे हिन्दी शब्द हैं डण्डा नहीं। हिन्दी म कण्टकर और तमचा शुद्ध शब्द हैं कन्टक्टर यहां बड़ा गलत शब्द है, हां पत पम्प जरूर ठीक है। इसका कारण यह है कि हिन्दी के गठन म 'म' व 'न' वण ग्रहीत ह मचलना 'नाचना' आदि, परन्तु ड' व ण की ऐसी स्थिति यहां नहीं—तद्रूप शब्दो मे ही य मिलेंगे अन्यत्र नहीं। अग्रेजी म भी न' (N) और 'म (M) ही ग्रहीत है ञ' ङ ण नहीं इसलिए ठेठ हिन्दी शब्दो को तथा विदेशी (अग्रजी फारसी आदि) भाषाओ को इन अनुनासिक व्यञ्जना के सयोग से लिखना हिन्दी प्रकृति के विरुद्ध है। राजर्षि टडन को कोई टण्डन' लिख देता था तो अच्छा नहीं समझते थे। परन्तु 'सन्त को सत' न लिखते थे। सस्कृत तद्रूप शब्दो मे ङ आदि लगेंगे—एक सुवण कङ्कण दिया। तद्भव अनुस्वार रहेगा हाथ कगन का आरसी क्या कही अनुनासिक कगना।

काशी का आज सवत्र वर्गीय पचमाक्षरा का सयोग करता है तो 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा, (ठीक इसके उलटे) सवत्र अनुस्वार का प्रयोग करती है। सभा की सभी प्रकाशनो मे परसवण की जगह अनुस्वार ही रहता है—सस्कृत

१ हिन्दी शब्दानुशासन—आचाय किशोरी दास वाजपेयी पृष्ठ ११५ ११

शब्दो म भी दन्त' वहाँ सदा दत रहता है और मम्पन' का कपन रूप मिलता है। हिन्दी भी वहा हिन्दी रूप म चलती है। एक ही शहर म हिन्दी क दो एकदम भिन्न माग ! कुछ ठिकाना है ! जहाँ 'न्' 'म्' सुनाई पडते हैं, वहाँ उनका बहिष्कार क्यो ? जब आचार्य वाजपेयी का 'हिन्दी शब्दानुशासन छपने को प्रेस म दिया गया तो सभा के अधिकारियो म और वाजपेयी जी म इसी बात को लेकर बडा सघर्ष हो गया था। सभा के अधिकारी अपनी सुनिश्चित वतनी म हिन्दी शब्दानुशासन छापना चाहते थे पर वाजपेयी जी का कहना था कि हिन्दी और 'पम्प जसे शब्दो से न् म को हटाना ठीक नही है। इन वर्णो को ङ ञ् ण के साथ क्या गिना जाए। नौबत यहा तक पहुंची कि यह ग्रन्थ 'सभा म छपेगा भी या नही ! परन्तु वाजपेयी जी 'सभा से छत्तीस सौ रुपए पेशगी ले चुके थे और सभा से लिखित रूप म यह दान मनवा चुके थे कि लेखक ग्रन्थ म जो कुछ भी लिखेगा और जिस तरह भी लिखेगे वह सब उसी तरह छपेगा। सभा उसम कुछ हेर फेर न कर सकेगी। बस, इस इकरारनामे के कारण 'सभा' को वाजपेयी जी का ग्रन्थ उनकी अपनी वतनी म छापना पडा और हिन्दी' ज्यो की त्यो रही। परन्तु प्रकाशकीय वक्तव्य म यह सब प्रकट कर दिया गया। सभा' के अधिकारी वाजपेयी जी की इस प्रवृत्ति पर बहुत नाराज भी हुए थे। परन्तु हिन्दी के स्वरूप का प्रश्न था। वाजपेयी जी झुके नहा यद्यपि उन्हे इसके कारण आगे कुछ आर्थिक सुविधा से वचित होना पडा।

सक्षेप यह कि हिन्दी का सस्कृतीकरण आज के कार्यालय का काम है और गन्दा' को भी 'गदा करना सभा का काम है। हिन्दी अपने रास्ते जाएगी—जा रही है।

फारसी आदि के शब्द

हमारी भाषा म फारसी आदि के शब्द मुसलमानी शासन काल म आ मिले थे, जसे कि अग्रेजी शासन मे अग्रेजी के। रूमाल, वकील बाजार आदि हिन्दी के शासन म अब है जसे अग्रेजी के कोट 'बटन' आदि। अनमेल शब्दो को कोई भी भाषा कुछ काट-छाँटकर अपनी प्रकृति का बना लेती है। हमारा 'खर फारसी मे खर बन गया और वहाँ का निशाँ यहाँ निशान बन गया जरूरत बन गया जरूरत'। बाजार या बजार साधारण जनता मे बोला जाता है—बाजार नही। ज ख क ग, के नीचे बिन्दी लगा-लगाकर जो उच्चारण प्रकट किया जाता है वह हमारे देश की उच्चारण प्रक्रिया म नही है। लायक और गरीब शब्द रामचरित मानस म भी आए हैं परन्तु इनके क ग का उच्चारण उसी तरह होता है जसा कि कमल तथा गव आदि के क — ग का। ससार की सभी भाषाएँ ऐसा करती है। परन्तु विदेशी मुसलमान शासक अपने देश की भाषा के शब्दो का उच्चारण अपने देश वाला करते थे। उनका उच्चारण यहा के उनके राज्याधिकारियो ने ग्रहण कर लिया

और उनसे फिर छोटे अधिकारियों ने और आगे छोटे छोटे मुंशियों ने भी। बड़े-बड़े आदमी सब उसी तरह बोलने लगे और यों हमारी भाषा बन गई 'उर्दू'। अंग्रेजी राज में भी हिंदुस्तानी साहब अपने अर्दलियों से बोलते थे—तुमको हम बोला, मेम साहब हास्पिटल जाना मांगता है। जाकर तुम ठीक करो। साधारणजन 'अस्पताल' बोलते हैं। अधकचरे लोग 'हस्पताल' बोलते हैं जैसे कि जीभ में बोलकर 'जिह्वा' की जगह लोग 'जिम्मा' बोलते हैं। यदि अंग्रेज शासक यहां (मुसलमान शासकों की तरह) बस जाते तो रोमन लिपि में लिखी हुई एक और भाषा बन जाती, जिसमें 'पुस्तक', 'जल' आदि की जगह 'बुक', 'वाटर' जैसे शब्द चलते—'देखो, हमारी बुक कहीं वाटर से भीग न जाए।' परन्तु वैसा हुआ नहीं।

उर्दू में विदेशी शब्दों की भरमार आगे ऐसी हुई कि साधारण जन कुछ समझ ही न पाते थे। उर्दू वाले बड़े गर्व से कहा करते थे—"आती है उर्दू ज़बां आते आते।" यानी उर्दू बोलना-समझना कोई सरल चीज नहीं। इसकी इस दुरूहता को हटाकर 'हिंदी' का प्रकृत रूप निखरकर सामने आया। विदेशी शब्दों की अनावश्यक भरमार हटा दी गई और विदेशी चाल भी हटा दी। यह—'गरीबों' की कठिनाइयां गरीब ही समझ सकते हैं—हिंदी और 'गुर्बा की मुश्किलात को गुर्बा ही मालूम कर सकता है'—उर्दू। साधारण जनता की गरीबी दूर करना जरूरी है—हिंदी और 'अवाम की गरीबी हटाना जरूरी है'—उर्दू। उच्चारण के साथ-साथ लिपि भी उर्दू की विदेशी। यानी हिंदी का अहिंदी रूप ही उर्दू है। उर्दू में प्रचलित अरबी फारसी आदि के शब्द हिंदी ने लिए, परन्तु अपनी प्रकृति से मिलाकर। 'जिस्म' को 'जिस्मन' कर लिया और हिंदोस्तां का हिंदुस्तान कर लिया। जहां को जहान किया, पर शाहजहां जैसे व्यक्तिवाचक शब्द ज्यों के त्यों रखे।

जैसे उर्दू वाले फारसी अरबी की ओर दौड़े थे उसी तरह आरम्भ में 'स्टेशन' वालों की दृष्टि में संस्कृत थी। हिंदी न तो फारसी है और न संस्कृत है। संस्कृत से अनुप्राणित तो सभी भारतीय भाषाएं हैं ही, यह अलग बात है। व्यक्तित्व सबका पृथक पृथक है। सो हिंदी ने 'स्टेशन', 'कलेक्टर' आदि स्वीकार न किए। संस्कृत तद्भव 'कष्ट' 'अण्डज' आदि यहां चलते ही हैं।

इधर (उर्दू के गढ़) उत्तर प्रदेश में एक दूसरी ही लहर चली। काशी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही 'सितारे हिंद' और भारतेन्दु के प्रकाश से जगमगा उठी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई और थोड़े ही दिनों में इसने अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त कर लिया। देश भर के बड़े-बड़े साहित्यिक और नेता 'सभा' के सदस्य बन गए। आचार्य द्विवेदी जी भी 'सभा' के सदस्य थे। 'सभा' ने हिंदी और हिंदी साहित्य के लिए जो

काम किया उसके गतनाने का आवश्यकता रहा। उसी की नींव पर यह हिन्दी का महाप्रासाद आज प्रतिष्ठित है।

जसा कि कहा गया है उस समय उर्दू का दौर-दौरा था। आज जब कोई बन्द दे डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी की आग थ तो 'निगिन लोग समभने लगते हैं कि यह 'डाक्टर बोलने वाला व्यक्ति निगिन' रहा है। इस अंग्रेजी का इतना भी ध्यान नहीं है कि मह को जरा गाल करके ऐसा उच्चारण करे, जिस ऊपर एक चिह्न लगाकर नागरी म डाक्टर के रूप म प्रकट किया जाता है। इस अवज्ञा से बचने के लिए लोग वसा उच्चारण का यत्न करते हैं। डाक्टर' लिखन ॥ कोई भूल न समझ ल, इसलिए डाक्टर लिखते हैं। कुछ एसा ही प्रभाव उत्तर प्रदेश क तत्कालीन हमारे महान साहित्यिक पुरुषों पर पड़ा और—काशी नागरी प्रचारिणी सभा सामने आई। सब सम्मति स एक निर्णय किया कि फारसी आदि के शब्दों के नीचे बिन्दी लगा-लगा कर 'गरीब जसे प्रयोग हिन्दी म हुआ करें गरीब जसा प्रयोग गलत है। प्रयाग की सरस्वती' भी सभा' के प्रभाव म थी। उसके लेखकों के लिए नियम ही बन गया कि सभा के निर्णयानुसार सरस्वती के लेखकों को फारसी आदि के शब्द लिखने चाहिए।

उस समय सभा के इस निर्णय का विरोध जिन कुछ लोगों न किया, उनम स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त प्रमुख हैं। सभा ने उन्नीसवीं शताब्दी क अंत म यह निर्णय किया था और उसी समय (सन १९०० की फरवरी की १९ तारीख को) 'भारत मित्र म गुप्त जी ने उस निर्णय का प्रत्याख्यान किया, लेख लिखा—

हिन्दी मे बिन्दी

गुप्त जी का वह लेख उद्धत करने लायक है। उसे आग यथास्थान उद्धृत करेंगे। यह समझ लेना चाहिए कि इसी वर्ष सरस्वती निकली थी और इसके पाच सम्पादकों मे बाबू श्यामसुन्दर दास प्रमुख थे। द्विवेदी जी कई वर्ष बाद सम्पादक हुए थे और उन पचों का भार उन्होंने अकेले ही अपने सिर ले लिया था। यह कई वर्ष बाद की बात है। सन १९०३ म द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक हुए थे। बाबू श्यामसुन्दर दास सभा' के प्रधान मन्त्री भी थे और 'सरस्वती के प्रधान सम्पादक भी। परन्तु द्विवेदी जी ने भी बिन्दी की वह परम्परा हटाई न थी बराबर चलती ही रही और बहुत दिन बाद हटी। कैसे हटी कब हटी क्यों हटी यह सब आगे लिखा जाएगा। बस गुप्त जी के लेख के तर्क बहुत जोरदार हैं और उनका प्रत्याख्यान हो नहीं सकता। उनके लेख से यह भी पता चलता है कि वे ण आदि का सयोग करते थे और 'लिए अव्यय को भी लिये लिखते थे। वे 'चाहिए की जगह चाहिये लिखते थे। आचार्य

द्विवेदी जी की भाषा पहले चाहे जैसी रही हो, पर बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से उन्होने उस पर ध्यान दिया। वे बहुवचन म 'वे' लिखते थे, अव्यय 'लिए' लिखते थे और इसी तरह 'चाहिए' भी। परन्तु फारसी आदि के शब्दो के नीचे बिन्दी वे भी लगाते रहे। सभा' के सब प्रकाशन 'गरीब' पद्धति पर चलते रहे 'सरस्वती' पत्रिका भी 'गरीब पद्धति पर और 'सम्मेलन' के प्रकाशन भी गरीब पद्धति पर। इस तरह हिन्दी मे यह गरीब-पद्धति छा गई। परन्तु कलकत्ते म गरीब पद्धति चलती रही।

इस बिन्दी का जोर इतना बढा कि संस्कृत का 'कफ' शब्द भी कफ़ लिखा जाने लगा, कन्नौज भी कन्नौज़[1] हो गया। जिस लवड घोधो की कल्पना गुप्त जी ने की थी, उसका नगा नाच होने लगा। बिन्दी की बीमारी ने सचमुच हिंदी वालो को बहुत दूर तक खराब किया।

परन्तु 'जायकेदार' शब्द न उस बीमारी को हटा दिया। बीसवी शताब्दी के चौथे दशक की बात है। प० किशोरी दास वाजपेयी कोई लेख लिख रहे थे, जिस म कही 'जायकेदार' शब्द जम रहा था। परन्तु वाजपेयी जी को यह पता न चला कि बिन्दी 'जा' क नीचे लगाई जाए या 'के' के नीचे या दोनो जगह या कही भी नही। लिखना था वही शब्द। इस पर वाजपेयी जी को झुंझलाहट आ गई और उस बिन्दी के विरुद्ध 'जेहाद' आपने छेड दी जिसने सन १९०० से लेकर अब तक हिंदी मे लवड धोधो मचा रखी थी। गुप्त जी का उपयुक्त लेख तब तक वाजपेयी जी ने न देखा था, पर गुप्त जी की प्रात्मा ही जसे उन म उतर आई हो। पत्र पत्रिकाओ म लेख लिखे फिर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के शिमला[2] अधिवेशन मे एक प्रस्ताव रखा कि फारसी आदि के शब्द नीचे बिन्दी लगाए बिना ही हिन्दी मे लिखे जाया करें। सम्मेलन म हिन्दी के बडे बडे धुरन्धर विद्वान साहित्यिक उपस्थित थे। सभा' के भी प्रतिनिधि उपस्थित थे। सब के मन का प्रस्ताव था। केवल दो प्रतिनिधियो ने विरोध किया—प्रयाग के प० कृष्ण कान्त मालवीय न और पजाब के डा० गोकुलचन्द नारग न। इन दोनो के विरोध-तर्कों का उत्तर जो वाजपेयी जी ने दिया, उससे चीज बहुत स्पष्ट हो गई। मत लिए जाने पर सहस्रो हाथ प्रस्ताव के पक्ष में उठे और चार पाँच विरोध मे। सम्मेलन म महाकवि निराला भी थे—सभी बडे लोग थे।

इस प्रस्ताव का प्रभाव पडा। बिन्दी से लोग तग तो थे ही। सिर से बोझ सा उतर गया। नीचे स बिन्दी हट गई। सभा के प्रकाशनो से बिन्दी हट गई। 'सरस्वती' से भी हट गई। परन्तु सम्मेलन के प्रकाशनो से वह बहुत दिन तक न हटी। वाजपेयी जी ने सम्मेलन' के साहित्य मत्री श्री रामचन्द्र टडन को नोटिस दिया कि आप 'सम्मेलन' के निर्णय की अवहेलना कर रहे हैं जरूरी आदि छाप कर। यह ठीक

१ ब्रजभाषा का व्याकरण प० १८ १९—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी
२ हिंदी शब्द मीमासा प० ९८

नहीं है। टंडन जी अनसुनी कर गए। तब वाजपेयी जी ने 'सम्मेलन' के अध्यक्ष (पं० माखनलाल चतुर्वेदी) को लिखा कि साहित्य-मंत्री सम्मेलन की अवहेलना कर रहे हैं, इसलिए अविश्वास का प्रस्ताव स्थायी समिति [illegible] लाकर हम इन्हें इस पद से हटायेंगे। तब सभापति ने आज्ञा देकर सम्मेलन के प्रकाशनों से वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी लगाना बन्द करा दिया।[1]

इसके अनन्तर 'हिन्दी-बहिष्कार' के उद्देश्य से ही 'लेखन-कला' पुस्तक लिखी, जिसमें फिर अन्यान्य बातें भी आई। हिन्दी-परिष्कार पर यह पहली ही पुस्तक थी, लेख आदि तो निकलते ही रहते थे।

इस तरह हिन्दी से प्टेशन, वारण्ट तथा गरीबी आदि की बीमारियाँ दूर हुई, परन्तु सन् १९४० के इधर एक नई बीमारी के कीटाणु छोड़ दिए गए। ठीक इसी समय गरीबी की बीमारी दूर हुई थी, उसी समय नई बीमारी के कीटाणु आ गए कि 'डाक्टर की जगह शुद्ध डाक्टर' आदि शब्द लिखने चाहिए। जैसे श्री राधाचरण गोस्वामी आदि की गरीबी-पद्धति पर सभा ने मुहर लगाई थी, उस तरह डाक्टर की बीमारी को पुष्ट करने के लिए सामने आ गई—भारतीय हिन्दी परिषद। भारत के विश्वविद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की संस्था है—'भारतीय हिन्दी परिषद'। इस परिषद ने सन् १९६० में यह निर्णय दिया कि अंग्रेजी के शब्द शुद्ध रूप में लिखने चाहिए—

डाक्टर' एम० ए, ऐल० एल बी। ये गलत हैं —

डॉक्टर, 'एम० ए एल एल बी'[2]

'परिषद' की मुहर लग जाने से डाक्टर आदि का चलन बढ़ने लगा था, परन्तु पं० किशोरी दास वाजपेयी ने इंजेक्शन दे दे कर उसे जहाँ का तहाँ रोक दिया। अब भूले भटके लोग ही डाक्टर लिखते हैं और यों तो गरीब पद्धति वालों का भी बीज नाश नहीं हुआ है। संसार में शुद्ध भी चलता है अशुद्ध भी। परिष्कार भी होता है विकार भी पैदा हो जाता है। परन्तु 'गरीब' से चिपटना और डाक्टर को सिर माथे लेने की पीलिस-व्यापारी समझ में नहीं आती।

कुछ लोगों का कहना है कि डाक्टर शब्द चिकित्सक के अर्थ में चलता है। उसमें भेद करने के लिए डी० लिट आदि उपाधिधारियों को डॉक्टर लिखा जाता है।

यह भी विचित्र बात है। तब तो विद्वान शब्द भी विषय भेद से भिन्न होना चाहिए और आचार्य भी। कोई किसी विषय का विद्वान् है कोई किसी का। सब के लिए एक ही विद्वान ठीक नहीं। पूरा डाक्टर में व उपाधिधारी भेद तक कम

१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृष्ठ ६६
२ आचार्य हिन्दी और उनकी भगिनी-भाषा—पृ० ८५ ८६
एक समालोचना पृ० ३

समझे जाते रहे ? अब भी वैसा लोग कसे समझ लेते है ? 'डा० दीन दयाल गुप्त' और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल सैकडा जगह लिखा हम देखते हैं। क्या इह लोग चिकित्सक समझ लते हैं ? इन से फोडा फुसी का इलाज कराते हैं ?

यदि चिकित्सक से भेद करना ही है तो उस अटपटे उच्चारण को हिन्दी म घँसाने की जरूरत नही। नाम के आगे अन्त म 'डी० लिट', 'डी एस सी' आदि लिखना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कौन किस विषय का विशेषज्ञ है। 'डॉक्टर' से हिन्दी विकत होगी और फिर विषय भेद भी न मालूम होगा। जो अग्रेजी नही पढे, वे ऊपर वह चिह्न देख कर भी 'डाक्टर' ही पढेंगे। क्या लाभ ? और 'डाक्टर' लिख दने पर भी अग्रेजीदा लोग वसा ही उच्चारण करेंगे, जसा समझाने के लिए लोग डॉक्टर' चलाना चाहते है। अत हम डाक्टर' ठीक प्रतीत होता है।

शब्द की लिखावट एक, उच्चारण अनेक

किसी शब्द के एक ही लिखावट के भिन्न भिन्न उच्चारण लाग करते है। अग्रेजी के Education शब्द का उच्चारण कही 'एज्यूकेशन होता है, कही एजूकेशन' और कही एडयूकेशन। ऐसे कई शब्द है। उच्चारण भेद को लेकर उनकी लिखावट मे भेद नहा किया जाता। लिखावट मे भेद करन म तो एक समस्या खडी हो जाती है। 'ऋषि' शब्द का उच्चारण इधर उत्तर भारत म रिषि' जसा होना है और दक्षिण भारत मे महाराष्ट गुजरात, म 'रुषि जसा। इसी तरह नागरी म 'डाक्टर' लिखने से साधारण जन अपना (मास्टर, जसा) उच्चारण कर लेंगे और परिषद वाले शुद्ध उच्चारण कर लेंगे जसे उच्चारण के लिए वे 'डाक्टर' लिखना पसन्द करते है।

डॉक्टर का चलन इतना हो गया कि प० किशोरी दास वाजपेयी को जो 'अभिनन्दन' 'ग्रथ' कलकत्ते म भेंट किया गया उसकी विषय सूची म प्रेस वाला न सवत्र 'डाक्टर' छाप दिया—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल आदि। क्या किया जाए ! जो बीमारी फली, सो फली ! इजेक्शन देने वाल को भी लग जाती है, उसके अभिनन्दन ग्रन्थ को लग गई।

हिन्दी का परिष्कार इसी तरह होता रहा है। एक ने सडक पर छिलका डाला दूसरे न उठा कर फेंका, तीसरे ने आकर फिर डाल दिया। परन्तु हिन्दी के *हितचिन्तक अपनी समझ से अच्छा ही करते हैं। स्टेशन वाले हिन्दी के अणुमचि तक* न थे गरीब पथी लोगा ने तो हिन्दी की नीव ही लगाई है और डॉक्टर जसे रूप पसद करने वाले तो भविष्य की आशाएँ ही हैं। हिन्दी म ऐसे शब्द भी चले थे —

इससें' 'इसके 'इसम 'इस्ते' आदि।

जिस समय आचाय द्विवेदी की सरस्वती हिन्दी को व्यवस्थित

दिन रात प्रयत्नशील थी ठीक उसी समय (द्विवेदी जी की ही सगी साथी) कुछ ऊँचे दर्जे के विद्वान् और सर्वमान्य साहित्यकार 'इस' 'उस' 'किस' जिस आदि को इस, उस किस और जिस जैसे रूप दे रहे थे, यद्यपि इस 'उस' जैसे रूपों का उन्होंने बहिष्कार न कर दिया था। वे लिखते थे—

जिसमें विम्ब तरह तरह की
आमा और जामुना की हैं

और—

'इसका ही अपराध नहीं
उसका भी साझा है

ऐसे प्रयोग उन विज्ञ जनों ने प्रारम्भ किए थे, जिनका आदर आचार्य द्विवेदी भी करते थे और जो हिन्दी साहित्य-संसार के शिरोरत्न थे—हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर जा अभिषिक्त किए गए थे—प० श्रीधर पाठक प० श्यामबिहारी मिश्र आदि।

आचार्य द्विवेदी अपने इन मित्रों की रचनाओं में 'इस्से उस्से काट कर इससे' उससे करके सरस्वती में छापते थे। इस नूतन पद्धति की चर्चा महाकवि 'हरिऔध' ने अपने प्रिय प्रवास महाकाव्य की भूमिका में इस तरह की है —

'हिन्दी भाषा के कतिपय सुप्रसिद्ध गद्य-पद्य लेखकों को देखा जाता है कि वे 'इसका' उसका इत्यादि को इस्का 'उस्का' इत्यादि और करना धरना इत्यादि को 'कर्ना धर्ना इत्यादि लिखने के अनुरागी हैं। पद्य में ही नहीं गद्य में भी इसी प्रकार इन शब्दों का व्यवहार व उचित समझते हैं। खड़ी बोली (राष्ट्रभाषा) की कविता के लब्ध प्रतिष्ठ प्रधान लेखक श्री युत श्रीधर पाठक की कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

पद्य— नहीं यहां भण्डार मही में चीज जिस्की रखवाली
'दोनो जीव पधारे भीतर जिन्हे चरित अमोल'[1]

गद्य— यह एक प्रेम-कहानी आज आप का भेंट की जाती है। निस्सन्देह इस्में ऐसा तो कुछ भी नहीं जिस्से यह एक ही बार में आप को अपना सके।[2]

प० श्रीधर पाठक उन दिनों हिन्दी के महान साहित्यकार थे। वे इस उस ही नहीं, पर और बस जैसे प्रयोग करते थे और अब भी—

पर इतने पर भी नहिं मन हुआ शान्त उनका।
बस अब क्या करना था, जब जतन नहीं कोई चला।

इसमें उनका नहीं उनका प्रयोग है। यानी वे विद्वान् इस्का और 'इसका आदि को वैकल्पिक प्रयोग मानने लगे थे जबकि द्विवेदी जी

१ एकान्तवासी योगी
२ वही

हलन्त प्रयोगा के पक्ष म न थे। ऊपर दिए पद्य को पङ्क्तिक दृष्टि मे देखकर हरिऔध न लिखा है—

"यह सस्कत का 'शिखरिणी' छन्द है, इसलिए ऊपर के दोनो चरण इस रीति स लिखे जावें तो निर्दोष होंगे, जसे वे लिख गए हैं, उस रीति से लिखने म छन्दो भग होता है।" छन्द की दृष्टि से निर्दोषता हरिऔध जी ने बताई है कि यो मिला कर लिखना ठीक था —

परिल्न मर्मो तो, नहिं मन हुआ शात उनका।
वसन क्या बना था, जब जवन कोई नहिं चला।

या छन्द रचना बतलाकर 'हरिऔध' जी कहते हैं—

"किन्तु यह बतलाइए कि इस प्रकार शब्द विन्यास कहा तक समुचित होगा ?" और इसको 'उसको 'जिसम' जिसको' इत्यादि शब्दो को प्राचीन और आधुनिक प्राय सभी गद्य-पद्य लेखक एसे ही रूपा म लिखते आते ह, फिर कोई कारण नही है कि इस प्रचलित प्रणाली का बिना किसी मुख्य हेतु के परित्याग किया जाव।"[1]

इन उद्धरणो से दो बातें हुइ। एक तो हिन्दी क दो महारथियो की भाषा सामने आ गई और इस्क आदि के प्रयोगा की स्थिति भी सामने आ गई। यानी 'इस्के' प्रयोग किसी अनजानी के नही, जान-बूझ कर सुविन जना के किए हुए है। तब प्रश्न उठना है कि आखिर इस नई प्रवत्ति का कारण क्या हो सकता है। क्यो इस समय इस प्रवत्ति का उन्म हुआ ? यदि 'सरस्वती' न होती, तो ? तो कम बन्ने लोगो के 'इस्के' उस्के प्रयोग चल पडते, परन्तु हिन्दी की प्रवत्ति हलन्त शब्द स्वीकार करने की है नही इसलिए इसके उसके भी चलते रहते। फल यह होता कि 'जायगा' 'जावगा' आदि की तरह व द्विविध प्रयोग हिन्दी म धमाचौकडी मचाते और तब फिर एकरूपता सम्पादन करने म भगीरथ प्रयत्न किसी को करना पडता।

पर एसे प्रयोगा की प्रेरणा मिली कस उन महान विद्वानो को ? एसा लगता है कि यह सब भाषा विज्ञान क हिन्दी विवेचन का परिणाम सामन आया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भाषा विज्ञान के कितने ही ग्रन्थ जमन भाषा म और अंग्रेजी मे छपकर विश्व विश्रुत हो चुक थे और इन ग्रन्था से भारतीय विद्वान भी प्रभावित हो चुके थे। आचाय द्विवेदी ने भी सन १९०५ म भाषा विज्ञान की चर्चा 'सरस्वती' म की थी।

भाषा विज्ञान क इन ग्रन्था म हिन्दी और सस्कृत की भी चर्चा है। परन्तु वे विद्वान प्राय रोमन लिपि क द्वारा ही हिन्दी आदि से परिचित थे जहा इस, उस जब आदि को Is us JAB जसे रूपा म लिखा जाता है। अत म A न देखकर उन विद्वाना न लिखा कि हिन्दी म ये शब्द व्यञ्जनान्त हैं कोई स्वर (यानी A यानी अ) इनके अन्त म नही ह। बस इसी चीज न यहाँ के विद्वानो को चक्कर म डाल

[1] महाकवि हरिऔध—प्रियप्रवास का भूमिका

दिया। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की प्रकृति पहचान ली थी, इसलिए वे डिगे नहीं, भाषा विज्ञान के इस प्रकरण के प्रभंजन में 'महावीर' उड़े नहीं।

भाषा विज्ञान का यह भ्रम अभी तक चल ही रहा है। जितने भी भाषा विज्ञान के ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गए हैं उनमें यही सब लिखा है कि हिन्दी में जो अकारान्त शब्द कहे जाते हैं वे हलन्त (व्यञ्जनान्त) हैं—इस, उस, जब उन आदि। यही नहीं, हिन्दी में प्रचलित संस्कृत आदि के ऐसे शब्दों को भी वे यहां (हिन्दी में) हलन्त ही मानते हैं। राम फल्, वन्, जगत्, कागज आदि। परन्तु प्रयोग करते हैं अकारांत—राम ने उससे कहा। 'राम्ने उस्से कहा' नहीं लिखते। कहते हैं कि लिखने में 'अ' का आगम हो जाता है।

भाषा विज्ञानियों के इस भ्रम का उन्मूलन आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में कर दिया है। उनका कहना यह है कि—

१—इसम, उसम, राम ने आदि प्रातिपदिकों में अन्त्य 'अ' का उच्चारण कहीं हलका होता है, कहीं पूरा। उत्तर भारत में 'अ' का हलका उच्चारण होता है, परन्तु महाराष्ट्र-गुजरात, दक्षिण भारत तथा बंगाल में अन्त्य 'अ' का पूरा उच्चारण होता है। हिन्दी पूरे राष्ट्र की भाषा है। तब उन शब्दों को अकरात न मानकर हलन्त मानने में क्या बल है ?

और मान लो, जहां 'अ' का उच्चारण हलका होता है, वहां भी यह कैसे कहा जाएगा कि यहां 'अ' है ही नहीं, उसे सामने न लाकर 'इस्से उस्से' लिखने लग जाओ। अंग्रेजी के नाइफ (Knife) शब्द में 'K' है कि नहीं? बोलते तो बिल्कुल नहीं है कहीं भी। जज (Judge)[1] में कितने वर्ण अनुच्चरित रहते हैं? पर इनकी स्थिति यहां है कि नहीं ? हिन्दी के अकारान्त वर्णों के (अन्त्य) 'अ' का उच्चारण हलका ही सही हैं तो। और कहीं वह पूरा भी है, पूरा भी जोरदार। तब उन्हें हलका कैसे कहा जाएगा ?

२—हिन्दी की प्रकृति किसी भी शब्द के अन्त में व्यंजन वर्ण स्वीकार नहीं करती इसे सब कुछ स्वरान्त स्वीकार है। स्वरान्त प्रवृत्ति इसे प्राकृत अपभ्रंश से मिली है। प्राकृत ने ही हलन्त प्रवृत्ति छोड़ दी थी। इसीलिए संस्कृत के 'नमस्' जैसे प्रातिपादिकों के व्यंजन (स्) को उड़ाकर 'नभ' मात्र प्रातिपदिक हिन्दी ने अपनाया। 'नभ में उड़ते हैं पंछी' प्रयोग होता है नभस् नहीं। यदि इसमें हिन्दी को स्वीकार होता, यदि इसकी जगह (हलन्त) 'इस्' हिन्दी का प्रकृत्यन होता तो फिर नभस् को नभ करने की जरूरत क्या थी ? और यदि 'उन' अकारान्त न होकर 'उन्' हलन्त हिन्दी की चीज होती तो फिर 'कथन' प्रातिपदिक के 'न' को हटाने की जरूरत न होती

१ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ५६४
२ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ५६४ ५६४

और 'कम की प्रधानता है' की जगह 'कमन्को प्रधानता' चलता। तब फिर 'उन' की जगह 'उन्' वह सन्त थे और 'उन्को' प्रयोग सही होता।

यह सब 'भारतीय भाषा विज्ञान' में विस्तार से बतलाया गया है। भाषा-विज्ञानियों का एक बड़ा भ्रम दूर हो गया है। यदि ऐसा न होता तो आगे फिर किसी समय 'भाषा-शुद्धि' के लिए 'इसम राम्ने सब्रख्य् ल्यिा है' (इसमें राम ने सब रख लिया है) चिन्ह चलाते और एक बखेड़ा ऐसा खड़ा हो जाता कि किसी की कुछ न चलती।

खैर! यहाँ हम केवल इतना बतलाना था कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब आचार्य द्विवेदी हिंदी का संस्कार परिष्कार कर रहे थे तब उन्हीं के कुछ साथी 'इस्के' 'उम्के' चला रहे थे। परन्तु हिंदी की प्रकृति और 'महावीर' की 'सरस्वती' इन दो शक्तियों ने उस धारा को रोक दिया।

हमें आचार्य वाजपेयी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है और हम उनसे सहमत हैं।

तीसरा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

हिन्दी साहित्य का 'लाल युग'

हिन्दी का गद्यात्मक साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के साथ साथ प्रकट हुआ। उर्दू के भी गद्य साहित्य का यही उन्मेष काल है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं है। विदेशी लिपि के परिधान में और अनावश्यक विदेशी (फारसी अरबी) शब्दों से भरी हिन्दी को ही उर्दू नाम दिया गया है। सो हिन्दी के इन दोनों रूपों में गद्य निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सामने है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को हिन्दी का लाल युग कहना चाहिए जैसे कि उत्तरार्द्ध को भारतेन्दु युग नाम दिया गया है यह पं० किशोरी दास वाजपेयी का मत है। वाजपेयी जी का कहना है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कुछ आगे-पीछे और उनके साथ साथ बहुत से हिन्दी लेखक प्रकट हुए और उन्होंने अच्छा काम किया। भाषा का अच्छा रूप भी प्रस्तुत किया, तो भी युग नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बाबू माने गए और वह युग 'भारतेन्दु युग' के नाम से प्रसिद्ध है। यह इसलिए कि औरों की अपेक्षा भारतेन्दु ने अधिक लिखा। साहित्य के विविध अंगों पर लिखा। ठीक इसी तरह 'लाल' कवि ने शताब्दी प्रारम्भ में सब से अधिक लिखा और विविध विषयों पर लिखा। फलतः शताब्दी का पूर्वार्द्ध लाल युग और उत्तरार्द्ध भारतेन्दु युग, सही है।

हिन्दी के लाल कवि 'लाल'

गुजराती नागर ब्राह्मण पं० लल्लू जी लाल हिन्दी के रत्न हैं जो प्रलय पर्यन्त चमकते रहेंगे। आप के पुरखे किसी समय गुजरात से ब्रज चले आए थे और यहीं बस गए थे। पं० लल्लू जी लाल का जन्म आगरे में हुआ था। श्री जयशंकर प्रसाद की ही तरह लाल उनका कवि नाम था। बिहारी सतसई की टीका भी पं० लल्लू जी लाल ने लिखी थी जो लाल चन्द्रिका के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु उन की मुख्य कृति के रूप में प्रेम सागर प्रसिद्ध है। जनता में अधिक प्रसिद्धि ही इसका कारण है वैसे साहित्यिक योग्यता 'लाल चन्द्रिका' से अधिक प्रकट होती है। लाल

चन्द्रिका और 'प्रेम सागर' के अतिरिक्त 'लाल कवि ने सिंहासन बत्तीसी', बैताल पचीसी, 'माधवानल', माधव विलास, सभा विलास, 'राजनीति' आदि पुस्तकें भी लिखा, जिन में से सिंहासन बत्तीसी तथा 'बैताल पचीसी' का जनता में बहुत अधिक प्रचार हुआ।[1] उस युग के अन्य किसी भी लेखक ने इतना नहीं लिखा और इसीलिए यह युग लाल कवि का है।

लाल युग के हिन्दी-लेखकों ने हिन्दी के कई रूप प्रकट किए हैं। कुछ लेखकों ने प्रचलित अरबी फारसी के शब्द भी लिए हैं, और कुछ संस्कृत की ओर झुके हैं। किसी पर ब्रजभाषा का प्रभाव है और किसी ने ठेठ हिन्दी को अपनाया है, जिसमें दूसरी भाषा का पुट नहीं।

हां भाषा 'ध्यान मन' जैसे प्रचलित संस्कृत शब्द तो छूटेंगे ही नहीं, ये तो हिन्दी के अंग हैं। परन्तु अप्रचलित संस्कृत शब्द 'ठेठ' हिन्दी में नहीं लिए गए हैं। जब संस्कृत के ही नहीं लिए गए तब अरबी फारसी की तो बात ही दूर है। ठेठ हिन्दी लिखने वालों में इंशा अल्ला खां अग्रणी हैं। उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि इस (रानी केतकी की कहानी) में हिन्दवी छुट और किसी भाषा का पुट न मिलेगा[2]। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी की अपनी शक्ति दिखाने के लिए ही श्री इंशा अल्ला खां ने प्रतिज्ञापूर्वक वैसी भाषा लिखी है कि हिन्दी की अपनी पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी दूसरी भाषा के शब्दों पर यह निर्भर नहीं है। 'रानी केतकी की कहानी' पढ़ने में मन लगता है। बड़ी मीठी भाषा में कहानी लिखी गई है।

जो लोग उर्दू फारसी से हिन्दी में आए थे उनकी भाषा में वैसे शब्दों का आना स्वाभाविक है। इसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर है। संस्कृत प्रेमी लेखकों ने अपनी भाषा में संस्कृत शब्द लिए है। जब हिन्दी में विदेशी (फारसी अरबी जैसी) भाषाओं के शब्द गृहीत हैं और अपनी प्राचीन भाषा (संस्कृत) के शब्द भी साधिकार जमे हैं, तब सगी बहन ब्रजभाषा से वह दूर कैसे रहे? लाल कवि जैसे लेखकों ने अपनी हिन्दी में ब्रजभाषा का पुट दिया और उनके पथ पर आगे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बाल कृष्ण भट्ट आदि चले।

यों 'लाल युग' में हिन्दी के अनेक रूप थे जो भारतेन्दु युग में भी बराबर रहे। द्विवेदी युग में (बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में) भी वही स्थिति रही, पर आगे ब्रजभाषा का सहारा हिन्दी ने छोड़ दिया, यद्यपि सर्वथा नहीं छोड़ा। महाकवि हरिऔध शंकर, सनेही आदि की हिन्दी रचनाओं में भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा की झलक मिलती है। पं० श्रीधर पाठक जैसे सुकवि भी जहां तहां जरूरत पड़ने पर वह भागी लिख गए हैं।

१ प्रेम सागर लल्लूलाल जी का जीवन चरित पृ० ११
२ रानी केतकी की कहानी—भूमिका

भारतेन्दु जी तो लाल कवि की ही तरह 'भई' जसी क्रियाएँ भी देते रहे। भट्ट जी की भाषा म भी (लाल कवि की ही तरह) 'जाय 'दिखाय' जसी पूवकालिक क्रियाएँ मिलती हैं। इस ब्रजभाषा पुट के कई कारण हैं।[2] तब तक ब्रजभाषा साहित्य ही हिन्दी का सवस्व समझा जाता था और ब्रजभाषा साहित्य न रसिक हिन्दी म माधुय लाने के लिए यह पुट देत थे। ब्रजभाषा हिन्दी (खडी बोली) के निकटतम भी है। लाल कवि, भारतेन्दु और भट्ट जी जसे लेखक श्री कृष्ण के उपासक थे और इसलिए भी उनका ब्रजभाषा के प्रति आकषण था।

भाषा के आज भी कई रूप प्रकट हैं। परन्तु ब्रजभाषा के शब्दों के प्रति मोह हट गया है। फिर भी इसको उसको तथा इनको उनको जसे शब्द रूपो के साथ विकल्प इसे' उसे' 'इन्हें' 'उन्हें' जसे ब्रजभाषा प्रभावित रूप चलते हैं। 'इसे' 'इन्हे म 'इ — इ विभक्तियाँ ब्रजभाषा से आई है। हिन्दी (खडी बोली) की विभक्ति 'को है। 'हिन्दी-सघ' की भाषाएँ एक दूसरे से बिलकुल प्रभावित न हो यह कसे हो सकता है? अवधी भाषा के काव्य (राम चरित मानस) म 'काम रूप केहि कारन आया जसे क्रिया रूप आ गए हैं। परन्तु ऐसे प्रयोग क्वाचित्क हैं। भाषा अपना रूप तो रखेगी ही।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म हिन्दी गद्य का उन्मेष हुआ, तो अपनी अपनी रुचि के अनुसार लेखकों ने भाषा का रूप अपनाया। आगे चलकर निखार हुआ हिन्दी की प्रकृति ने अपना माग पकडा। परन्तु जो रूप इस समय प्रकट हुए वे प्राय सब के सब इस शताब्दी के अन्त तक देखे जाते हैं। उस समय निखार तो हो रहा था पर विचार (भाषा के रूप पर) न हुआ था कि क्या सही है और क्या गलत। सभी रूप वकल्पिक समझे जाते थे—सब शुद्ध। इस लिए उन्नीसवी शताब्दी के लेखकों की भाषा म शुद्धाशुद्ध का विचार करके 'मीन मेख करना ठीक नहीं।

किसी की भाषा म 'पडिताऊन का दोष देखना और किसी म मुन्शियाना ढग देखकर उसका मजाक उडाना नादानी है। उन्हीं लोगो की कृपा का फल है कि आज हम लोग हिन्दी पर विचार करने लायक हुए हैं। वस्तुत देखा जाए तो आज के लेखक ही बहुत गलत भाषा लिखते हैं। यह सब आगे स्वत प्रकट होगा। यहाँ हम युग-नायक (लाल कवि) तथा उनके सगी-साथियो की रचनाओ स उद्धरण दे दे कर देखेंगे कि उस समय हिन्दी किस रूप म प्रकट हो रही थी। उस समय की प्रधान रचना है प० लल्लू जी 'लाल का प्रेम सागर'। पहले हम इसी की भाषा देखें।

१ हिन्दी गद्य शली का विकास पृ० ३६
२ भट्ट निबधावली प० २२

प्रेम सागर की भाषा

'प्रेम सागर' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई और सन् १८१० में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। समय की दृष्टि से यह बड़ी रचना है। 'प्रेम सागर' एक गद्य-पद्य मय (चम्पू) काव्य है। गद्य 'खड़ी बोली' है और बीच बीच में पद्य (ब्रजभाषा में) है। गद्य-पद्य का यह भाषा भेद भारतेन्दु युग तक बराबर चलता रहा। यहाँ हमें केवल उसका गद्यांश देखना है। 'प्रेम सागर' में श्री कृष्ण की कथा नब्बे अध्यायों में वर्णित है। इस के चौथे अध्याय में श्री कृष्ण का जन्म वर्णन करके वसुदेव का गोकुल गमन का वर्णन है—

"नदी के तीर खड़े हो वसुदेव यों विचारने लगे कि पीछे तो सिंह बोलता है औ आगे जमुना अथाह बह रही है अब क्या करूं। ऐसे कह भगवान का ध्यान धर जमुना में पैठे। ज्यों-ज्यों आगे जाते थे, त्यों त्यों नदी बढ़ती थी। जब नाक तक पानी आया, तब तो वे निपट घबराए। इन को व्याकुल जान श्री कृष्ण ने अपना पाँव बढ़ाय हुंकारा दिया। चरन छूते ही जमुना थाह हुई। वसुदेव पार हो नन्द की पौर पर जा पहुँचे"।[1]

'विचारने लगे' की जगह आजकल 'सोचने लगे' लिखने की चाल है। परन्तु 'विचारने लगे' गलत प्रयोग नहीं है जैसा कि कुछ भाषा विचारकों ने इंगित किया है। 'वे सोच विचार में पड़ गए' 'वे सोचने विचारने लगे' जैसे प्रयोग आज भी होते हैं। एकाकी प्रयोग 'वे सोचने लगे' की तरह 'वे विचारने लगे' भी उस समय होता था। हाँ 'विचार' तत्सम रूप से 'विचारने लगे' अवश्य ठीक नहीं परन्तु लाल कवि ने सर्वत्र तद्भव रूप 'बिचारने' ही लिखा है।

लाल कवि जन भाषा में तद्भव रूपों का ही पसन्द करते थे। इसीलिए 'जमुना' 'जसोदा' आदि प्रयोग किए हैं 'यमुना' 'यशोदा' आदि नहीं। आजकल तत्सम 'यमुना' 'यशोदा' आदि चलन हैं परन्तु 'पाद' का तद्भव रूप 'पाँव' ही अधिक चलता है 'पाद' क्वचित ही। 'औ' तथा 'और' दोनों रूप लाल जी की भाषा में मिलते हैं। भाषा में अनेक वैकल्पिक रूप आज भी चलते हैं—'सूर्य' ने दर्शन दिए, 'सूरज' छिपने लगा। आगे चलकर 'और' रह गया 'औ' का प्रयोग विरल हो गया। कहीं कविता में 'औ' आज भी दे देते हैं।

पूर्वकालिक क्रियाएँ यहाँ 'धर' 'जान' 'हो' जैसी 'कर' रहित ही मिलती हैं। आज 'कर' के बिना कोई वैसी क्रिया नहीं चलती। 'कह कर' 'ध्यान धर कर' 'खड़े होकर' आज कल के प्रयोग हैं। परन्तु कहीं-कहीं 'कर' का प्रयोग लाल कवि ने भी किया है जैसे 'प्रभु का ध्यान कर', 'नमस्कार कर' आदि।

[1] प्रेमसागर, पृ० १६

वस्तुतः ब्रजभाषा में 'य' पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय है, जो विकल्प से 'इ' भी बन जाता है—'जाय' 'जाइ'। यह 'य' प्रत्यय संस्कृत पूर्वकालिक क्रिया 'आनीय' आदि का एक अंग है। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने आगे चलकर 'य' छोड़ दिया और सर्वत्र 'कर' का प्रयोग किया और अब यही ठीक है। भाषा में चलन ही मुख्य होता है। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक 'आय' जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ शिष्टजनों की भाषा में देखने को मिलती हैं। आगे फिर इनका चलन बन्द हो गया और 'आकर' जैसे रूप ही आज सर्वमान्य हैं। गंगाजी ने जो मार्ग पकड़ लिया, वही ठीक। व्याकरण भाषा में उसी रूप का समर्थन करता है जो सामने हो। उस समय हिन्दी का जो व्याकरण बनता, उसमें 'आय' तथा 'आकर' इन दोनों रूपों को वैकल्पिक बतला कर समर्थन करना पड़ता, क्योंकि कई लेखक 'आकर' 'जाकर' उस समय भी लिखते थे। पं० कामता प्रसाद गुरु ने जो 'हिन्दी व्याकरण' बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में लिखा और जो सन् १९२१ में प्रकाशित हुआ, उसमें 'जायगा' 'आयेगा' 'जावेगा' और 'जाएगा' इन चारों रूपों को शुद्ध (वैकल्पिक) बतलाया है, क्योंकि शिष्ट जनों में हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखकों में ये चारों रूप चलते थे—अब तक चल रहे हैं। परन्तु आचार्य वाजपेयी ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है—'हिन्दी शब्दानुशासन' में भाषा की प्रकृति का जो विश्लेषण किया है—उससे स्पष्ट है कि 'जाएगा' रूप ही शुद्ध है, शेष तीनों अशुद्ध हैं।[1] परन्तु अशुद्ध होने पर भी वैसा प्रयोग करने वाले महान् लेखकों की गलती उस समय न कही जाएगी, क्योंकि तब तक यह विचार ही न हुआ था कि हम आचार्य वाजपेयी के तर्क में बल दिखाई देता है, अतः हम उनसे सहमत हैं।

इन चारों रूपों में कौन शुद्ध है, कौन अशुद्ध? जब तक कोई कानून बना ही नहीं, तब तक उस (कानून) का तोड़ने का अपराधी कोई कैसे हो सकता है? परन्तु आज की भाषा का बना व्याकरण 'आय' 'जाय' जैसी क्रियाओं का समर्थन न करेगा, विरोध भी करेगा, क्योंकि यह [illegible] की प्रकृति है। वस्तुतः ये जो क्रिया-रूप हिन्दी में रहते हैं, ये सब संस्कृत में भी [illegible] नहीं है। हिन्दी ने 'जाकर' 'आकर' जैसी पूर्वकालिक क्रियाओं को बड़ा पसन्द किया। इसमें [illegible] है। हिन्दी [illegible] किसी दूसरी क्रिया का संयोग पाकर विशिष्ट अर्थ देता है। 'जाकर' [illegible] और 'जाकर' [illegible] में कितना अर्थ भेद हो गया? 'जाकर' पूर्वकालिक क्रिया है [illegible]। [illegible] 'जाना' का भूतकालिक प्रयोग (गया) [illegible] विशिष्ट अर्थ देता है। [illegible]

[illegible]

---

1. हि० शब्दानुशासन, पृ० १८

म भेद है। लाल जी न 'ज्या ज्या और त्या त्या का भी प्रयोग किया है। उनका जन्म व्रज म हुआ था और व्रज जनपद म आज भी आप ज्या तो सुन सकते हैं। परन्तु साहित्यिक व्रजभाषा म ज्या-त्या ही गहीत हैं जा-ता नहीं—'ज्यो ज्या निहारिए नीरे ह्वै ननिन, त्या त्या खरी निकरै सी निकाई। व्रजभाषा साहित्य म जा जा 'ता ता न मिलेगा। परन्तु लाल जी न दोना तरह के रूप (विकल्प) से लिए ह। उर्दू म 'ज्या त्या रूप ही चलते हैं। हिन्दी न जा ता स्वीकार नहीं किए ज्या त्या कर के पहुच गए ज्या ज्या हमन नम्रता दिखाइ वह प्रखडता ही गया जसे प्रयोग ही आज चलते हैं। साहित्य सदा व्यापकता देखता है। उर्दू म ज्या त्या व्रजभाषा साहित्य म ज्या त्या और हिन्दी साहित्य म भी ज्या त्या स्वय लाल जी की भाषा मे भी ज्या त्या गहीत है तब व्रज जनपद क जा ता क्स चलते ? या तथा 'गया क वजन पर ज्या और 'त्या ठीक चले। परन्तु लाल जी क जा ता को आज कोइ गलत कहे तो गलती करेगा।

एसे कह म एसे क्रिया विशेषण है। ऐसे कह—इस तरह कह कर। एसा कह कर भिन्न चीज है। एसे चलो—इस तरह चलो। पठे' क्रिया प्रचलित है। पठ—पानी म पाव रखा। वमवाडी म कहेंगे—'जमुना मा हिले । प्रवेश करना और 'घुसना' तथा धँसना पथक क्रियाएँ है। घबराए को कोई घबडाए बोलते हैं। प० किशोरीदास वाजपेयी के जो पत्र' हिन्दी सग्रहालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग) म रखे हैं उन म एक पत्र आचाय द्विवेदी का ऐसा मैंने देखा जिसमे घबडाना घबराना की चर्चा है। आचाय द्विवेदी जी न उस पत्र मे वाजपेयी जी के एक लेख की प्रशसा की है और फिर लिखा है—आप घबराए की जगह 'घबडाए' क्या लिखते हैं ? पता नहीं, वाजपेयी जी ने क्या उत्तर दिया परन्तु आगे फिर वाजपेयी जी न 'घबडाना सदा के लिए छोड दिया। यानी लाल कवि का घबराए ऐसा टकसाली है कि आचाय द्विवेदी तक न उसका समथन किया।

'घरन छूते ही म चरन ध्यान देने योग्य है। जनभाषा म 'चरन ही चलता है परन्तु आजकल हिन्दी म तत्सम रूप चरण ही चलता है यद्यपि 'आश्चय' के साथ अचरज और सूय के साथ 'सूरज जस 'तदभव शब्द भी चलते हैं। लाल कवि ने 'ण की जगह प्राय न का ही प्रयोग किया है। व्रज भाषा साहित्य मे 'ण गहीत नहा है और साहित्यिक हिन्दी के 'अपने गठन म भी ण नहीं है।

म तथा न यहाँ गहीत हैं ण ञ ङ नहीं। 'सामने आदि म म तथा न प्रकट हैं। मचलना जसी क्रियाओ म भी म न हैं, परन्तु 'ण' कहीं भी न मिलेगा। 'ण यहाँ सस्कृत तत्सम शब्दा म ही मिलेगा—कारण मरण अरण, पावण आदि। व्रजभाषा साहित्य म भी कारन चलता है और अवधी भाषा म भी कारन क्वचित

नाथ नहिं आए ।[1] यही कारण है कि लाल जी ने कारन जैसे तदभव रूप अपनाए, जो आगे चल रहा। उर्दू जाने फारसी आदि के शब्द तत्सम रूप में ही लिखते थे— खयाल आदि। हम बोलते हैं—'हमारा खयाल तो यह है।' परन्तु उर्दू वाले खयाल को गलत बतला कर खयाल लिखते-बोलते हैं। हिंदी उस समय उर्दू से टक्कर ले रही थी इसलिए यहां तत्सम कारण आदि का चलन जारी हुआ।

ब्रज तथा अवध आदि की जन भाषाओं में ना ण नहीं है पर खड़ी बोली के प्रदेश (मेरठ के इधर उधर) की जनता ण बोलती है ण की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति है। वहां बहन को बहण बोलते हैं। संस्कृत में भगिनी है भगिणी नहीं। भगिनी का रूपांतर बहिनी अवधी पाञ्चाली आदि में। बहिनी का रूपांतर बहन ब्रज में और ब्रज से सटे हुए मेरठी अंचल में 'बहण'। परन्तु खड़ी बोली के साहित्यिक रूप (हिन्दी उर्दू) में बहण नहीं लिया गया ब्रजभाषा का बहन गृहीत हुआ।

कहने का मतलब यह है कि हिंदी के निखरे हुए (साहित्यिक) रूप में न की प्रवृत्ति है। लाल जी का ध्यान उसी ओर था। इसीलिए उन्होंने 'कारन' जैसे तदभव रूप पसन्द किए थे।

पौर जैसे शब्द आजकल कम चलते हैं—नहीं चलते कहना चाहिए। द्वार दरवाजा आदि शब्द आजकल चलते हैं। द्वार का प्रयोग लाल कवि ने भी किया है पर नन्द जी तो महीधर (महर) थे न। अच्छे खासे जमींदार थे। ड्योढी पर फाटक लगा था। कपाट का छोटा रूप 'किवाड़' और बड़ा रूप कपाट का उलट पुलट होकर पाटक और फिर फाटक[2]। परन्तु फाटक की जगह पौर शब्द अधिक मजा हुआ है। पौर भी बड़े फाटक को कहते हैं। बड़े शहर पहले पुर कहलाते थे। पुर चारों ओर मजबूत परकोटे से सुरक्षित किए जाते थे और भीतर जाने के लिए चारों ओर चार बड़े-बड़े द्वार रहते थे। इन द्वारों के द्वारा ही भीतर कोई जा सकता था। इनमें बड़े-बड़े मजबूत फाटक लगे रहते थे। पुरों के ये द्वार पौर द्वार कहलाते थे। पौर कहने से भी पौर द्वार का बोध हो जाता था जैसे 'संस्कृत' कहने से संस्कृत भाषा का और हिंदी कहने से हिन्दी भाषा लोग समझ लेते हैं। आगे चल कर पौर शब्द बड़े-बड़े फाटक वाले बड़े लोगों के द्वार का भी बोध कराने लगा। ऐसे गौण प्रयोग भाषा में चलते ही रहते हैं। तिलों से निकली चिकनाई को तेल (तैल) कहते हैं परन्तु आगे चल कर सरसों अलसी मूंगफली आदि से निकली चिकनाई भी तेल कहलाने लगी। इसी तरह 'पौर' शब्द

१ तुलसीजी
२ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० ४८१

तदभव म वसी कक्शता नहीं है— मारग साइ जा वह जाद भावा । परन्तु 'पथ' की सी मधुरता यहा भी नहीं । वणकटुता कम हो जाना एक बात है और मधुरता दूसरी चीज है। इसीलिए हिन्दी ने कर्ण का तदभव रूप 'कान' स्वीकार किया श्रवण का सवन नहीं। सवन म न की मिठास तो है। परन्तु र का रार शोर भी है। हा एकाधिक बार 'न आजाए तो र की कटुता को दवा दगा— सुयो करति हों हू स्रवननि सा काहू करत मासन की चारी । परन्तु हिन्दी म कान ही चलता है सवन नहीं। माग तो ज्यो का त्यो चलता है, मारग नहीं। परन्तु 'पथ' सवथा अनवद्य है।

'नदी उतर फिर आए तहां, बठी सोचती थी देवकी जहां।'

यानी वसुदेव जी अपने बन्दीगृह जा पहुचे। बडे अच्छे ढग से बात कही है। जहा तहा की तुक भी मीठा है। प्रेमसागर म इस तरह क काव्योचित प्रयोग बहुत हैं, जिन म पद्योचित मीठी तुकों का पुट है। एसे गद्य का सस्कृत के आचार्यों ने 'पद्य गन्धी' कहा है। पद्य की गन्ध—पद्य का सी झलक—जहा हा। पढने वाले को एक विशेष आन द मिलता ह।

तहां' है वहां की जगह। लाल कवि ने वहां का भी खब प्रयोग किया है, परन्तु तहा से परहज नहा। जहा जो ठीक जमे। 'जहां क साथ तहा इसलिए अच्छा लगता है कि 'न और 'त दानो स्थान दन्त है। व भिन्न श्रेणी का अन्तस्थ' वण है। इसीलिए जहा तहा चौकें पूरी हुई थी प्रयाग हात हैं— जहां-वहां नहीं। 'जसे तसे काम निपटा ही दिया —'जस वस नहीं। तहां स वचाव हा भी जाए पर उसके सग भाई तव' स कस बचोग ? 'तव की जगह हिन्दी ने 'वब या उव' तो बनाया ही नहीं है। यह हिन्दी सघ की भाषाओ म एकसूत्रता का प्रमाण है। अवधी ब्रजभाषा आदि म सवत्र जसे तब उसी तरह राष्ट्रभाषा हिन्दी म। सा 'जहां' के *साथ तहा बहुत बढिया प्रयोग है।*

+ + +

बालक का जन्म सुनत हा कस डरना कांपना उठ खडा हुआ और खड्ग हाथ म ले गिरता पडता दौडा। धुकड पुकड करता जा बहन क पास पहुचा। जब लिग क हाथ स लडकी छीन ली तब वह हाथ जाड बाली—

ऐ भया यह कन्या है भानजी तेरा। इसे मत मार। यह पेटपोछन है मेरी।'

जा बहन क पास पहुचा —बहन क पास जा पहुचा एक हा बात है। प्रयाग भिन्न भिन्न है। आज भी मैं मा आ हा जाउगा जस प्रयाग हात है। हा' बीच म आ जान म भी आ जाउगा सम्मन म काई अन्तर नहा पडता। आ

जाऊँगा ही प्रयोग नहीं होना इसीलिए ऐसा ढालना गलती है।

विस य हाथ म । वहा तिसके और तिनके प्रयोग हैं उसके और उनके की जगह। उस समय ऐसे प्रयोग होते थे जो भारतेन्दु-युग के अन्त तक चलते देखे जाते हैं। अब तिसके 'तिनके प्रयोग नहीं होते। विसके प्रयोग विचित्र है।

इसी तरह कहा विनके जैसे प्रयोग भी हैं। उसके के व को ट हो गया है और तिसके का स्वर इ उसमें जा लगा है। वस्तुतः सावधान होकर ही विसके प्रयोग हुआ होगा। वह म थ है तब के आदि विभक्तियों के लगने पर भी वह क्या न रहे यह विचार सभव है। पर वम का भी ठीर नहीं। जब जिसको म इ आ लगा तो व म भी क्यों न लगे। यही सोचकर विसको विसने आदि प्रयोग किए गए होंगे। भाषा स्थिर रही थी। प्रयोग गढ़े जा रहे थे। आगे चलकर उसके उसने आदि प्रयोग ही रह विसके विसने आदि छूट गए।

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि लाल कवि ने सर्वत्र जिससे उससे तिससे आदि प्रयोग किए हैं यानी स का सम्बर लिखा है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसके विपरीत जिस्से उस्से तिस्से जैसे प्रयोग कुछ प्रसिद्ध लेखक करते थे।

राजा लक्ष्मण सिंह भी ऐसे प्रयोग करते थे परन्तु फिर उन्होंने अपनी पद्धति बदल दी थी और जिससे आदि लिखने लगे थे। प० श्रीधर पाठक भी जिस्से उस्से आदि लिखते थे। परन्तु हिन्दी ने यह पद्धति स्वीकार नहीं की। हिन्दी की प्रकृति लाल कवि पहचानते थे कि यहाँ सभी शब्द स्वरान्त हैं। यहाँ तक कि संस्कृत के नमस पयस आदि व्यंजनान्त शब्दों को भी स्वरान्त कर के हिन्दी ने अपनाया है व्यंजन अन्त का छोड़ दिया है—नभ में पंछी उड़ते हैं और पय पान करो हरि नाम जपो आदि प्रयोग होते हैं। रुधिर पियन, पय ना पियत लगी पयोधर जाय हिन्दी के प्रयोग हैं। यहाँ नभस्म बूंदें गिरती हैं जैसे प्रयोग सम्भव नहीं। जब संस्कृत से लिए हुए व्यंजनान्त शब्द भी हिन्दी ने स्वरान्त कर लिए तब अपने शब्द कैसे व्यंजनान्त रखता ? भाषा के प्रवाह में स्वरान्त प्रियता प्राकृत काल से ही आ गई थी। ऐसी भूलें अनजाने भाषा करने लगते हैं जिनको निखार भाषा स्वयं कर लेती है।

यहाँ 'ज्योंही' तोंही है परन्तु दो ग पष्ठ बाद 'ज्योंही' त्योंही प्रयोग है—

ज्योंही (नन्द) जमुना तीर आए, त्योंही समाचार सुन वसुदेव जी पहुंचे।

तद् के लिए भी प्रयोग ब्रजभाषा का है। बाद में और व्यापार में [illegible] हो [illegible] के लिए चलता है। [illegible] हुए [illegible] —हुए था और लिए इस्तेमाल [illegible] सर्वत्र भाषा विकास हुए [illegible]।[1]

[illegible] भाषा विकास हुए। [illegible] का तरह प्रयोग है। इस प्रकार होता है—इसके उपर विकसित हुए। [illegible] और विकसित भी। किसका [illegible] प्रयोग है जो आज चला रहा। [illegible] हो सकता है। विकसित का विकास हो आज काई बढ़ा बाद रहा है।

हुए का तरह भी प्रयोग है। लाल कवि ने हुआ [illegible] प्रयोग हो लिए है। यह भी ब्रजभाषा साहित्य के अनुसार का प्रभाव है। ये ब्रजभाषा के हो। परन्तु [illegible] लोग के आगन्तु [illegible] भाषा में भी [illegible] प्रयोग बन जाते हैं।[2] उस समय [illegible] समझा जाता था। हिन्दी-भाषा की सभी भाषाएँ एक दूसरी से प्रभावित हैं तब किसी की [illegible] साधारण बात है। प्राय सब पर [illegible] लगी दिखाई पड़ते हैं। [illegible] हुआ हुए प्रयोग होते हैं। भाषा के प्रवाह में यह सब होता ही रहता है। [illegible] हुआ भी प्रवाह का ही फल है। हिन्दी का धातु है—हो। इसके होता है, होगा [illegible] रूप चलते हैं। यह भू धातु का रूपान्तर है। [illegible] का रूपान्तर प्राकृत में [illegible]। यहीं से हो हिन्दी ने लिया और अपनी धातु बना ली। [illegible] पृथक चीज है।

[illegible] में वर्णों का इधर उधर (वर्णव्यत्यय) [illegible]—[illegible]। [illegible] हो गया और यह हिन्दी का [illegible] धातु। [illegible] प्रत्यय जोड़ने पर और संधि कर [illegible] रूप—है सब कुछ। [illegible] है संयुक्त क्रिया पद है।

जबकि हो धातु है और होना है आदि इसके रूप होते हैं तब हुआ कैसे? सोएगा की ही तरह होएगा रूप चलना चाहिए पर चलता है होगा। यह कैसे? ए कहाँ गया? हुई में भी का रूप उ कैसे हो गया? पंजाबी भाषा में तो 'होया' रूप चलता है सोया आदि की तरह पर हिन्दी में हुआ कैसे हो गया? विचित्र बात है। भाषा का प्रवाह है। अब कोई विचारक नया व्याकरण बना कर कहे कि हुई गलत है, सोई की तरह होई लिखना-बोलना चाहिए तो उसकी बात कौन मानेगा? सो भाषा के अनन्त प्रवाह में ये छोटी मोटी बात होती ही रहती है।

× + +

लाल जी ने जब-तब के साथ कभी-कभी जद तद प्रयोग भी किए हैं और

१ प्रेमसागर पृ० २४
२ हिन्दी गद्य शैली का विकास पृष्ठ ३६

तभी की जगह तधी भी लिखा है। ऐसे वैकल्पिक प्रयोगों का कारण यह हो सकता है कि ब्रजभाषा में तथा अवधी आदि में तो जब-तब चलते ही हैं उर्दू में भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं। इसलिए लाल कवि ने भी जब तब 'तभी जैसे प्रयोग किए। परन्तु वे एक ऐसी भाषा दे रहे थे जो उपर्युक्त सभी भाषाओं से भिन्न अपनी स्थिति रखती है—जिसके स्वतन्त्र विधि विधान हैं। गद्य में यह भाषा उतर रही थी। लाल जी संस्कृत के और संस्कृत के यदा-कदा से अपरिचित न थे। 'य' को 'ज' हो जाना स्वीकार ही करते थे— जमुना जसोदा लिखते थे। कभी तत्सम रूप भी लिखते थे—यदुवंशियों में।

सो उन्होंने यद का ह्रस्व करके जद और तद को तद कर लिया। तद में ही आ लगने पर तधी रूप भी लिखा। यह भी सम्भव है कि खड़ी बोली की जन्म भूमि का ध्यान रखा हो। बुलन्दशहर में और कुरुजाङ्गल में आज भी 'जद-—तद' ही बोलते हैं। परन्तु वहां भी इन्हें बोलते हैं—'इब' नहीं। 'इब' ब्रज आदि में अब है। जैसे जब और तब इसी तरह अब। 'जब-तब की व्यापकता ने ही उर्दू को प्रभावित किया। वहां जद तद नहीं चले। लाल कवि कदाचित उर्दू से भेद करने के लिए ही इन्हें 'तद' चलाना चाहते हों जो संस्कृत 'यदा कदा' के बहुत समीप हैं। परन्तु उनके ये प्रयोग आगे चले नहीं। आगे 'जब 'तब' ही चले, चल रहे हैं।

साहित्यिक भाषा व्यापकता देखती है। आया का बहुवचन आये और स्त्री-रूप आयी आई सर्वविदित है। परन्तु इन प्रयोगों में 'य' की स्पष्ट श्रुति न होने से य-विकल्प लोप होकर आई आया' और आए आये प्रयोग भाषा की प्रकृति ने स्वीकार किए जैसे संस्कृत के हरयिह और हर इह व्याकरण ने स्वीकार किए हैं। परन्तु लोगों को आए 'आई लिखने में लाघव जान पड़ा इसलिए ऐसे ही प्रयोग आगे बढ़े। इस तरह के प्रयोगों ने अवधी आदि को भी प्रभावित किया और वहां 'आवा' का बहुवचन आए तथा स्त्री रूप आई चले। वैसे आवा का बहुवचन आवे' तथा स्त्री रूप आवी होता। व की स्पष्ट श्रुति भी है। परन्तु आया के आए, आई रूपों ने प्रभावित किया क्योंकि ब्रजभाषा में भी आए आई का चलन है।

संस्कृत में हरयिह के हर इह वैकल्पिक प्रयोग का प्रभाव पड़ा, तब 'विष्णविह' का भी वैकल्पिक रूप विष्ण इह हो गया। इसी तरह शब्द प्रभाव मानते हैं। अब तब जब रूप जब सर्वत्र चल रहे थे तो लाल कवि के 'तद-जद' आगे कम बढ़ सकते थे।

श्री लल्लू जी लाल ने अपना परिचय दे दिया है—

श्री लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे

संवत् १८४३ में अपना नगर छोड़ अन्न जल के अधीन हो मकसूदाबाद में आया।[1]

इस उद्धरण में विशेष्य 'श्री नल्लू जी लाल' कवि पहले है और इसके विशेषण बाद में। आजकल हिन्दी की चाल ऐसी नहीं है। विशेषण पहले आएगा। 'गौ बहुत अच्छी मैंने ली' की जगह आज बोल जाता है 'बहुत अच्छी गौ मैंने ली'। 'आगरे ब्राह्मण गुजराती' के जगह आज हो जाएगा 'गुजराती ब्राह्मण'। सहस्र अवदीच भी पहले आएगा। 'आगरेवासी' की जगह आजकल 'आगरा निवासी' या 'आगरे का रहने वाला' आज के प्रयोग हैं। 'अवदीच' कुछ चिन्त्य प्रयोग है। संस्कृत शब्द है 'औदीच्य'। इसका तद्भव रूप 'अवदीच' नहीं मान सकते क्योंकि संस्कृत 'अव' का रूपान्तर जन भाषा में 'औ' होता है—अवगुण औगुन और अवसर औसर। संस्कृत 'औ' का रूपान्तर 'अव' नहीं होता। 'औषधि' का रूप 'अवषधि' कहीं न मिलेगा। हां 'कौन' का 'कवन' हो जाता है, यह संस्कृत की बात नहीं है। सो, 'अवदीच' ऐसा ही प्रयोग है जैसे कोई 'वाजपेयी' का 'वाजपई' कर दे। तद्भव रूप में 'वा' की जगह 'बा' होगा—बाजपई। 'गीध धौ कहां का बाजपई'। 'च्य' को 'च' कर देने से तद्भव न हो जाएगा और 'औ' का तो 'अव' होना संभव ही नहीं।

बात चली है, तो तद्भव की स्थिति भी यहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि भाषा परिष्कार के विषय में पग पग पर ऐसी उलझनें आती हैं। लोग अपने गलत प्रयोग को तद्भव बतलाकर उसका समर्थन करने लगते हैं। ऐसे समर्थन से भाषा का अहित होता है। समर्थन करने से कोई शब्द शुद्ध न हो जाएगा। एक विद्वान के मुख से 'पुंसु' निकल गया। लोग हंस पड़े। उन्होंने 'पुंसु' सिद्ध करने के लिए संस्कृत का एक नया व्याकरण ही बना डाला। परन्तु वह सब कर देने पर भी संस्कृत में 'पुंसु' प्रयोग ही चलता है 'पुंक्षु' कोई नहीं लिखता-बोलता। यदि कोई 'पुंक्षु' प्रयोग करे तो गलत समझा जाएगा और वह 'पुंक्षु' समर्थक (सारस्वतम्) व्याकरण कुछ काम न देगा। यही स्थिति संस्कृत शब्द का गलत प्रयोग करके उसे तद्भव बतलाने की है। तद्भव का अर्थ है—तदुत्पन्न। तदुत्पन्न शब्द नए चलते। पत्र से पत्ता बन गया, ठीक है चल रहा है। परन्तु कोई चित्र का चित्ता बनाकर चलाए तो ? लोग कहेंगे कि इसका दिमाग चल गया है। पत्ता तद्भूत है—पत्र से बन गया है। यह विकास है। चित्र का चित्ता विकास नहीं विकार होगा। स्वर्णकार का (सुनार, सोनार) सुनार के रूप आ गया। परन्तु ऐसी नकल पर कोई मृत्युकार

---

१ लल्लू जी लाल कृत (१८१२) में उद्धृत आत्मकथा।
२ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० १०५

का 'नचहर' बना दे, तो विक्षिप्त कहलाएगा। पितगह का रूप पीहर' बन गया, पर इस दग कोई मातगह का रूप माइहर म₂र' नहीं चला सकता। हा ज्ञातिगह का नहर जरूर सामने है—नाति 7 नाति 7 नाइ। ना+इ=न। 'गह' का 'हर' हो ही जाता है। सो स्मशान' आदि की ही तरह 'औदीच्य का गलत रूप अवदीच' है। 'औदीच रूप अवश्य सदभव है। यानी औ' का गलत रूप अव' दे दिया है। इस तरह की गलतिया आज भी लोग करते हैं। उदू फारसी के उस युग म भी लाल कवि ने अपनी हिन्दी को साक्य दोष से कसा बचाया है ? हाँ, वाक्य-गठन म, पद गनि म आज के हिन्दी रूप से किञ्चित अन्तर है पर वह खटकता नही, अच्छा लगता है। हिन्दी की यह भी एक शली है। छोड 'हो जमी पूवकालिक क्रियाओ के आगे कर' नही है। य कर मुक्त रूप कुछ बुरे नही लगते प्रवाह म बहुत अच्छे लगते हैं। यह अलग बात है कि आज इस तरह के रूप नही चलते। मवसूदाबाद म आया यन्त

अवध आदि में 'औ' ही चलता है। आगे फिर 'और' ले लिया गया। लाल कवि के समकालीन तथा पहले के भी अन्य साहित्यिकों की रचना में 'और' भी मिलता है। यानी उस समय 'औ' तथा 'और' दोनों वैकल्पिक प्रयोग चलते थे। आगे फिर 'और' रह गया, यद्यपि कहीं कविता आदि में 'औ' भी दिखाई देता है।

'गोस्वामी गोपालदास के बैकुंठ पाने से और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादास के बरधवान जाने से उदास हो, नव्वाब से विदा हो नगर कलकत्ते में आया। बावन लक्खी रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर उनके पास रहा।'

'पाने से' की जगह आजकल 'पा जाने पर' जैसा कुछ प्रयोग होता है। परन्तु लाल कवि ने अपनी उदासी का कारण गोस्वामी जी का बैकुंठवास और उनके भाई का बरधवान चले जाना बतलाया है, इसलिए दोनों जगह 'से' विभक्ति दी है। 'बरधवान' आजकल 'बर्दवान' हो गया है।

'जब उनकी जमींदारी का बंदोबस्त हुआ और उन्होंने अपना राज पाया, तब उनके साथ ही कलकत्ते से नाटौर को गया।'

यहां 'और' पद है। स्पष्ट है कि 'औ' 'और' वैकल्पिक प्रयोग उस समय थे। 'नाटौर को' की जगह आजकल निर्विभक्तिक 'नाटौर गया' लिखा जाएगा।

'कई बरस पीछे उनके राज में उपद्रव हुआ। वे कैद हो मकसूदाबाद में आए। तब उनसे बिदा हो फिर कलकत्ते में आया। यहां के बड़े आदमियों से भेंट की पर कुछ प्राप्त न हुआ। उन्हीं के बीच शिष्टाचार में जो कुछ वहां नाटौर से लाया था सो बैठ कर खाया।'

बहुत साफ टकसाली इबारत है। 'जो' के साथ 'सो' है। आजकल प्रायः 'वह' चलता है। परन्तु 'सो' कितना भला लगता है। 'जो—वह' और 'जो-सो'। देखिए कौन सा प्रयोग अच्छा लगता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि ऐसी जगह आज भी 'सो' चले। भाषा का अपना प्रवाह होता है। वह हमारे या किसी के भी कहने से बदलता थोड़े ही है। परन्तु आज भी 'जैसे को तैसा' चलता है 'जैसा को वैसा' नहीं। 'जो जागे सो पावे' की जगह 'जो जागे वह पावे' न चलेगा। 'जो बोले सो कुंडा खोले'। 'वह' नहीं। 'सो' का ही वर्ण व्यत्यय आदि से रूपान्तर 'वह' है, पर अपनी अपनी स्थिति है। खीर तो दूध से ही बनेगी, दही से नहीं। कढ़ी दूध से न बनेगी। इसी तरह हिन्दी में 'सो' और 'वह' है।

'निदान कई बरस के बैठे बैठे घबरा कर जी में आया कि दक्षिण को चला चाहिए। यह मनोरथ कर यहां से जगन्नाथपुरी तक गया और महाप्रभु के दर्शन किए। संयोग से नागपुर के राजा मनियां बाबू भी उसी बरस श्री क्षेत्र में आए थे।

उनसे भेंट कर उनके साथ जाने का विचार बीसो बिस्वे पक्का हो चुका था, पर प्रन जल प्रबल है। उसने न जाने दिया और उल्टा खच कर कलकत्ते मे ले आया।" 'चाहिय' आज भी चल रहा है और 'चाहिए' भी। यदि एक रूपता अपेक्षित है तो 'चाहिए' रहेगा। आचार्य द्विवेदी जी भी 'चाहिए' ही लिखते थे। परन्तु चल रहे हैं दोनों रूप अब तक। और यही उपयुक्त प्रतीत होता है। आगे इस पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

खच आजकल खीच है। उलटा की जगह 'उलटे' चाहिए और यह गलती आजकल भी लोग करते है। 'उलटा' सभा विशेषण है। लाल कवि को उलटा करके प्रन जल कलकत्ते नहीं खीच लाया था, उन्हें उलटे कलकत्ते खीच लाया था। जाना चाहते थे दक्षिण पर उलटे आ गए कलकत्ते। यानी 'उलटे' क्रिया विशेषण है। एसे प्रयोग निखार में नहीं आते। ये तो लेखकों के अपने मनचाहे प्रयोग है, प्रमाद स्खलन हैं। अधिकांश में व्याकरण न जानने के कारण ऐसी गलतियां होती हैं, जिन पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

'कुछ दिनों पीछे सुना कि एक पाठशाला कपनी से साहिबों के पढ़ने को एसी बनगी कि जिसमे सब भाषा जानने वाले लाक रहेगे।

कपनी से कर्ता कारक है। कर्मवाच्य क्रिया है। आजकल कपनी के द्वारा कहा जाएगा। 'साहिब अब साहब' हो गया है। यदि छापने में कोई हेर फेर नहीं हुआ है तो 'रहैंगे बनगी जस प्रयोग द्रष्टव्य है। द्विवेदी युग में अच्छे अच्छे विद्वान् लेखक भी 'रहेंगे' बनगी जस प्रयोग करने लगे थे जिन्हें द्विवेदी जी ठीक कर लेते थे 'रहेंगे' आदि।

हिंदी के निखार या परिष्कार में ऐसी उलटा फेरी बराबर रही है और आज भी हो रही है। इसीलिए तो परिष्कार में एक युग लग गया और फिर भी काम पूरा नहीं हुआ। आज भी लताए-लताय आदि मनचाहे प्रयोग लोग करते है।

ये समाचार पाय चित्त को अति आनंद हुआ।' छाप की गलती से य आया जान पड़ता है क्योंकि लाल कवि ने यह का प्रयोग ठीक ठीक अन्यत्र किया है। यह समाचार पाकर' अद्यतन प्रयोग है। पाय पाकर। व्रजभाषा में पाइ 'जाइ आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ चलती है। इन का य कर के 'पाय जाय' आदि रूप। आज भी साइकिल सायकिल जैसे द्विविध प्रयोग देखे जाते है। अब हिंदी 'कर' धातु में लगा कर पा कर' जा कर जैसी पूर्वकालिक क्रियाएं चलती है।

श्री लल्लू जी लाल की भाषा देखने के लिए इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। इन की भाषा मे एक स्वाभाविक प्रवाह है। विशेष बात यह है

ही रूप म चलना होगा। प्रत्याक्रमण संस्कृत सामासिक शब्द हिन्दी म चलता है संधि कर के। परन्तु यहा हिन्दी ने समास करके भी संधि नहीं की— सुयोग और सुअवसर पाकर वह आगे बढ़ा। यहाँ सु उपसर्ग संस्कृत का और अवसर भी संस्कृत का समास भी है, पर संधि नहीं है। संस्कृत नियम क अनुसार संधि आवश्यक है। परन्तु स्वागत म संधि चलती है। कोई सु आगत नहीं बोलता लिखता। तब श्री लल्लू जी लाल भाषा पर नियंत्रण कैसे करते?

व्यवस्था का अभाव लाल कवि की भाषा म कहाँ है कुछ मालूम नहीं हुआ। कहने वाले का पूरा मतलब (किसी भ्रम सन्देह के बिना) यदि सुनने वाला समझ ले तो समझना चाहिए कि भाषा व्यवस्थित है शब्द प्रयोग म व्यवस्था है। यदि अर्थ समझने म गड़बड़ी हो या देरी लगे तो भाषा अव्यवस्थित। लाल कवि की भाषा तो बहुत ही सरल व्यवस्थित और चित्ताह्लादिक है। उसम व्यवस्था हीनता बतलाना कुछ समझ म नहीं आया।

शब्द चयन के विचार से लाल कवि की भाषा वस्तुत धनी है। धनी शान होती है कुछ दबी जबान है।

लाल कवि ने संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है तो कोई बुराई नहीं। परन्तु सुकोमल मधुर और जन प्रचलित शब्द ही उन्होंने तद्रूप प्रयुक्त किए हैं— वन फल नदी, फल आदि। इनके तद्भव रूप वे कहाँ से लाते।

लाल कवि ने शब्दों को विकृत नहीं किया है। यह झूठा इलजाम है। उन्होंने शब्दों के विकसित (तद्भव) रूप लिए हैं—असोदा जमुना रोहिनी आदि। जन भाषा म ये शब्द चलते हैं। यदि कोई किसी शब्द को मनमाने ढंग से चाहे जैसा बना ले तो कहा जाएगा उसने विकृत कर दिया। स्मर शब्द को महाकवि बिहारी ने समर कर दिया है यह विकृति है क्योंकि जनभाषा मे कामदेव का नाम समर सुना नहीं जाता। हा लाल कवि कहीं स्मरण का विकसित रूप सुमिरन पसन्द करें, तो यह विकास प्रियता है। जनभाषा म सुमिरन चलता है। परन्तु 'सुमिरन' के उदाहरण पर कोई स्कन्ध का रूप सुकिन्ध कर दे तो? तो वह अपनी विकृत बुद्धि का परिचय देगा। खिले हुए फूल को देख कर कोई किसी कली की पखड़िया नोच उठा कर रख दे, तो कहा जाएगा कि उसने कली को विकृत कर दिया। यदि कली स्वत खिलेगी तब रंग रूप आएगा। लाल कवि ने जनगृहीत मधुर शब्दों का व्यवहार किया है। शब्दों को कहा विकृत नहीं किया है।

देशज शब्दों का प्रयोग कुछ बुरा नहीं है। यह दुर्भाग्य की बात है कि देशज (हिन्दी के अपने) शब्द दिन पर दिन छीजते जा रहे हैं। लाल कवि ने 'थापिक कर

की जगह देहाज बरसौटी' शब्द दे दिया तो बुरा क्या किया ? बरसौटी' कसा गठीला शब्द है। बरस भर का लगान—बरसौटी'। गन्ना छोड कर यदि हम शक्कर का बेंत (गुगर कन) शब्द चलाएँ तो कसा रहेगा ? लाल कवि की कृतियों से शब्द संग्रह कर के यदि हिन्दी का एक व्यवहार-कोश बना दिया जाए तो बडा काम हो।

अरबी फारसी के शब्द लाल कवि ने अपनी भाषा मे नही लिए, तो बुराई क्या है ? दूसरे की चीज तभी लेनी चाहिए, जब अपने यहाँ वसी चीज न हो। आवश्यकता के बिना परकीय भाषा के शब्द भरने से अपनी भाषा विकृत होती है। कमरबन्द लाल कवि क्या लेते जबकि तीन अक्षरों का 'पटुका' शब्द जन भाषा म प्रचलित हैं। कमर कसन का पट—पटुका। 'कमर बन्द' शब्द वसा ही है जसा अंग्रेजी का शुगर केन।

लाल कवि की भाषा का परीक्षण करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह किस युग की चीज है। उस युग के मुंशी सदासुख लाल, श्री इन्शा अल्ला खा, प० सदल मिश्र आदि की भाषा पर विचार करते समय ओछे हलके शब्दो का प्रयोग करना सचमुच कृतघ्नता प्रकट करना है। यह उन्हा पुरखो का लगाया उद्यान है जिसके मधुर फलो का आनन्द हम ले रहे हैं।

मुंशी सदासुख लाल

लाल युग म आप प्रसिद्ध हिन्दी लेखक हैं। 'सुखसागर' आप की प्रमुख कृति है। भाषा आप की भी वसी ही है जसी लाल कवि की पर कुछ ढीली। छापे की गलतियों के लिए भी नए विचारकों ने आपको हो ग्रन्थकार को ही दोषी ठहराया है। को बुरा माने कि भला मान प्रयोग मुंशी सदासुख लाल नही कर सकते। 'कोई' का 'ई' छापे म छूट गया उड गया तो मुंशी जी को न फटकारना चाहिए कि वे 'कोई' लिखना न जानते थे। उनकी भाषा की बानगी लीजिए—

जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढते हैं कि तात्पय इसका जो सतोवत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप म लय हूजिए।"[१]

'होय जसे प्रयोग ब्रजभाषा के प्रभाव से है। ब्रजभाषा मे 'होनी होय सो होय' जसे प्रयोग होते हैं। आगे 'य' हट गया और 'हो' मात्र गहीत हुआ। ब्रजभाषा का कुछ न कुछ प्रभाव अब तक है और इसीलिए 'राम जाय तब काम बने' जसे

१ जगन्नाथ शर्मा—हिन्दी भाषा सार, प० ५

प्रयोग लोग करते हैं। संभावना में 'इ' प्रत्यय लगता है—करे तो काम बन अ+इ = ऐ संधि होती है। कर+इ='करे और बन+इ—बने। ब्रजभाषा में अ+इ ऐ' संधि होती है—करै, बनै। हिन्दी में भारतेन्दु आदि करै बनै ही लिखते थे। अकारान्त धातुओं से भिन्न आकारान्त—ओकारान्त आदि धातुओं के आगे 'इ' ब्रजभाषा में विकल्प से 'य' बन जाती है—'जाय जो लाज तो जाय भल, पै न काम बिगारु सखी अपनो तू। और जाइ भी चलता है।

इसी तरह 'होय' और 'होइ' चलते हैं। यह सब ऐसे ही समझिए जैसे आज कल मायकिल 'साइकिल' आदि। राष्ट्रभाषा में 'हो' के आगे से 'इ' प्रत्यय उड़ गया, प्रयोग होते हैं—सवेरा हो, तो चलं। इसी में गा, गे गी लगा कर भविष्यत क्रियाएँ होगा, होंगे, होगी, होंगी बनती हैं। ब्रजभाषा में होयगो, होइगो प्रयोग होते हैं। 'हो' में ही 'इ' का लोप है अन्यत्र 'इ' को 'ए' रूप मिल जाता है—'मुखलाल खाए, तो हम मिठाई खाए।' अवधी के प्रभाव से लोग 'सोवै' और 'सोवगा' लिखने लगे, फिर सोवे, सोवेगा आदि। यह अवधी के 'आवा' आदि का प्रभाव। दूसरे लोग 'आया' के प्रवाह में बहे और 'राम सोये तब हम मिठाई खाय' लिखने लगे। यानी 'ख' पर किसी ने अवधी का व लाद दिया और किसी ने 'य' ला पटका। होय के साथ होव' और होव भी चल यानी 'इ' को 'ए' करके उसमें भी 'व' लगा लिया। परन्तु आगे ये सब विकार हट गए, 'इ' को ही हटा दिया गया और अब जो बात सत्य हो उसे कहना चाहिए' प्रयोग होते हैं। 'कहा चाहिए' जैसे प्रयोग पहले होते थे। अब भी पुरानी चीजों में ऐसे प्रयोग सुरक्षित हैं—'जिसको मारा चाहिए बिन लाठी, बिन घाव उस को यही सिखाइए घुइया पूरी खाव। मारा चाहिए—मारना चाहो। आज भी प्रयोग होते हैं—'मेरा कहा नहीं मानता' और 'मेरा कहना नहीं मानता।

'कोई बुरा माने कि भला माने' के उद्धरण में कहीं प्रेस की गड़बड़ी से 'ई' उड़कर 'को' मात्र छप गया, तो यारों ने मजा बाँध दिया—मुंशी सदासुख लाल को 'कोई' लिखना भी न आता था। 'कोई' की जगह वे 'को' लिखते थे—को बुरा माने या भला। किस को बला किसके सिर। अभी पिछले दिनों महाकवि 'सनेही जी' का अभिनन्दन कानपुर में हुआ था और उन्हें एक बड़ा अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया था। उसमें एक सुप्रसिद्ध हिन्दी महारथी का लेख देखा। जिसमें सनेही जी को 'कविकुगुरु' बतलाया गया है। लेख पढ़ने से, सनेही जी को देखने से और इस लेख के लेखक को ध्यान में रखने से साफ पता लगता है कि 'कु' के आगे 'ल' गायब है और 'कुल गुरु' का 'कुगुरु' छप गया है। परन्तु इस पर ध्यान न देकर कोई बिगड़ बैठे कि इसमें सनेही' जी को 'कुगुरु' कह दिया है तो लेखक जवाब दे देंगे कि मैंने तो 'कविकुलगुरु

लिखा था, छप गया 'कुगुट'। परन्तु मुन्शी सदासुख लाल जवाब देने को बैठ नहीं है।[1]

'बुरा मान कि भला' की जगह आज बुरा मान चाहे भला प्रचलित है। पहले विकल्प में 'कि' अव्यय चलता था।

[2]सतोवृत्ति को डा० जगन्नाथ शर्मा ने संस्कृत तत्सम शब्दों में गिना है पर है ऐसा नहीं। सतोवृत्ति संस्कृत शब्द नहीं है हिन्दी की अपनी टकसाल का है। जैसे यहां 'मनोकामना' सुअवसर आदि शब्द गढे गए उसी तरह सतोवृत्ति है। सतोवृत्ति संस्कृत में गलत, पर हिन्दी का अपना टकसाली शब्द है। इसे यहां कोई गलत नहीं कह सकता। 'तमोवृत्ति' और 'रजोवृत्ति' को देखकर सतोवृत्ति प्रकट हुआ जैसे दहला को देखकर नहला। दहला में तो ठीक स का ह हो गया, परन्तु 'नौ' या नव में तो ह है नहीं। तो भी मेल से मन मिल गया—नहला नहला।

अब कोई नहला को गलत कह कर हटा नहीं सकता। ह का आगम करके टकसाली नहला गया। इसी तरह संस्कृत के शब्द लेकर अपनी टकसाल में हिन्दी ने सुअवसर 'मनोकामना और सतोवृत्ति जैसे सिक्के ढाल लिए जो मजे से चल रहे हैं। सभी भाषाएँ ऐसा करती मानती हैं। ऋषि विश्वमित्र को लोग 'विश्वामित्र' कहने लगे और उनका यही नाम प्रसिद्ध हो गया। वे विश्व के 'अमित्र' तो थे नहीं कि वैसा कुछ समझा जाता। पाणिनि को इस एक नाम के लिए ही एक सूत्र बनाना पड़ा कि ऋषि का नाम 'विश्वामित्र' इसलिए ठीक है कि 'विश्वमित्र' का पूर्वाद्ध लोग दीर्घान्त करके बोलने लगे, है वह विश्वमित्र ही। परन्तु प्रसिद्ध हो गया है विश्वामित्र। संस्कृत में उसका वैसा ही प्रयोग होता है इसलिए उसे शुद्ध करके फिर विश्वमित्र करना गलती होगी। विश्वामित्र' ही ठीक, अलग करने पर 'विश्व के मित्र अर्थ।

सो 'सतोवृत्ति संस्कृत तत्सम शब्द' मुन्शी सदासुखलाल की भाषा में नहीं है, हिन्दी का अपना शब्द है।

'इसलिए' जैसे प्रयोग अब नहीं होते हैं।

मुन्शी जी ने 'इकठौर कीजिए'[3] जैसे प्रयोग भी किए हैं। 'इकट्ठा कीजिए' आजकल चलता है। मुन्शी जी की भाषा में आवता है जावता है' जैसे प्रयोग ब्रज

१ आचार्य शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ७०
२ हिन्दी गद्य शैली का विकास पृष्ठ १८
३ हरिऔध हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ६४०

भाषा के प्रभाव से हैं यद्यपि ब्रजभाषा म 'जात्त है नहा चलता है। 'आवत है बलबीर' और 'जात हैं बन को सब गोपान' प्रयोग हात हैं। अवधी पाञ्चाली आदि म भी 'आवति है जाति है' प्रयोग होते हैं।

पजाबी म भी 'आवेंदा है' के साथ 'जांदा है' चलता है जावेंदा है नहीं। परन्तु 'आव है' के साथ 'जाव है' चलता है। इसी की छाया ब्रजभाषा के 'आवगो जावगो' म है। जाइगो भी चलता है और जावगो भी। आवगा के साथ 'जावगा' ही चलता है। 'गो' की जगह 'गा' करके भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके संगी साथियो ने 'आवगा जावगा' जसे प्रयोग हिन्दी (खडी बोली) में किए हैं, जो आगे चलकर आवेगा जावेगा बन गए, और 'व' को 'य' करके 'आयेगा' 'जायगा' भी बन। इस समय भी 'आवेगा' 'आयगा' और 'आएगा' त्रिरूप क्रिया चल रही है। प० कामता प्रसाद 'गुरु' ने तीनो रूपो को शुद्ध (वकल्पिक) बतलाया है। 'सो' आवता है छूट जाने पर भी उसके भाई बन्धु 'आवेगा' आदि रूपो मे सामने हैं।

'मुन्शी' नाम उर्दू फारसी के जानकारो के लिए ही लगाया जाता था और उर्दू म 'आता है' 'जाता है' रूप चलते हैं तब भी चल रहे थे। साधारण जन भी आता है 'जाता है' रूपो से अपरिचित न थे। परन्तु फारसी लिपि म लिखी होने के कारण और 'उर्दू' नाम के कारण वह हिन्दी मुसलमानी भाषा समझी जाती थी। हिन्दी भाषा रसिको म तब तक ब्रजभाषा का ही आदर था। ब्रजभाषा मे (और अवधी आदि म भी) अव धातु है आ नहीं है। इसलिए आवत है को 'आवता है' करके लोग खडी बोली बना लेते थे। साहित्य म अनेक जगह ऐसा देखा जाता है। अवधी म (ब्रजभाषा आदि की तरह) भूतकाल म 'हो' धातु की जगह 'भ' का प्रयोग होता है— राम आवा हैं तौ का भवा ? ब्रजभाषा म राम आयो है तौ कहा भयो ? पाञ्चाली म 'राम आओ है तौ का भा ?

तुलसीदास चित्रकूट के समीप राजापुर (उ० प्र०) के थ। वहा पाञ्चाली भाषा चलती है। तुलसीदास ने अपनी पाञ्चाली भाषा की 'भा' क्रिया को (ब्रजभाषा के औ पु प्रत्यय के साथ) 'भो' कर लिया और ब्रजभाषा पद्य मे 'एक दिन को दान भो' जसे प्रयोग किए हैं। ब्रजभाषा म भयो और पाञ्चाली म भा' परन्तु ब्रजभाषा साहित्य म 'भो' क्रिया। जसे कि मुन्शी सदासुख लाल की हिन्दी म आवता हैं आदि। खडी बोली म आता है और ब्रजभाषा म आवत है परन्तु उस युग के हिन्दी साहित्यिक का हिन्दी प्रयोग— आवता है। साहित्यिक लोग ऐसे प्रयोग बहुधा कर देते हैं। कढ़िगो कबीर पै अहीर को कहै नहीं म कन्गि एसी ही क्रिया है। पाञ्चाली के 'कन्गिा' को 'कढिगो' करके ब्रजभाषा रूप। इसी तरह आवत है को आवता है करके खडी बोली का रूप।

आगे चलते चलते निखार हुआ और आवता है' आदि का व उड गया—'आता है' जस रूप रह गए, चल रहे हैं। तो भी 'आवगा जसे प्रयोग आज भी लोग करत हैं। हिन्दी का अपना रूप है—'आएगा'। आगे यथास्थान इस पर विस्तार से कहा जाएगा।

श्री इशा अल्ला खा

श्री इशा अल्ला खां ने ठेठ हिन्दी का रूप दिखाने के लिए 'रानी कतकी की कहानी' लिखी। इनकी भाषा टक्साली और परिमार्जित है—'सिर झुका कर नाक रगडता हूं अपन उस बनान वाले के साम्हने जिसन हम सबको बनाया।[1]

यहा 'साम्हने' प्रयोग उस समय की स्थिति सूचित करता है। आज के प्रयोग हैं—सामने' सामना' आदि। 'ह उड गया। कभी आ जाता है।

हम स हमारे और 'तुम से' तुम्हारे'। 'ह बीच म आ गया और अब हट नहा सकता। कोई 'तुमारा घर' लिखे तो लोग मजाक करें, भले ही वह कितना ही कहे कि तुम स' 'तुमारा' ठीक है 'तुम्हारा' गलत है। उसका यह व्याकरण धरा ही रह जाएगा। व्याकरण तो भाषा का अनुगमन करता है। पहल लिखते थ—'घोडे की लगाम थाभ ली। आज लिखते हैं—'थाम ली। यानी भ उड गया और 'था' निरनुनासिक होकर अपना अनुनासिकत्व म करके अग्रस्थ स्वर 'अ को सौंप दिया। पहल 'थांभ ली ठीक था, अब 'थाम ली ठीक है। इसी तरह 'साम्हने 'सामने' समझिए।

"आतियाँ जातियां जो सासें हैं उस (ईश्वर) क ध्यान बिन सब फासे हैं।'[2]

'आनी-जाती सासें आज का प्रयोग है और उस युग म एसे ही प्रयोग होत थ, परन्तु श्री इशा अल्ला खा जस लोग 'आतियां-जातियां भी लिखते थ। उर्दू म कोई कोई एसा प्रयोग कर देते थ— 'वह सूरतें इलाही किस देश म बस्तियां हैं जिनको कि देखने कूं आंखें तरस्तियां हैं।''[3] यहां कूं' ब्रजभाषा का प्रभाव है। आज की उर्दू म कूं एकदम गलत समझा जाता है। आज की उर्दू म सूरतें बसती हैं और 'आंखें तरसती हैं' प्रयोग होते हैं। परन्तु उन पुरान प्रयोगो को कोइ गलत नही कहता। कहते यह हैं कि उस समय वसे ही प्रयोग होते थे, बस। यही बात श्री इशा अल्ला खां की हिन्दी के बारे म भी है। आतियाँ-जातियाँ सासें वस्तुत पजाबी भाषा के प्रभाव से समझिए। साहित्यिक हिन्दी पहले 'उर्दू' नाम से चली। दिल्ली म इसको साहित्यिक रूप मिला, राजाश्रय मिला। दिल्ली के एक ओर ब्रज है। वहाँ की

१ जग नाथ शर्मा—रानी केतकी की कहानी
२ वही। ३ वही।

भाषा का कुछ प्रभाव पडा और दूसरी ओर पजाब है इसलिए वहा पजाबी भाषा की छाया पड गई।

पजाबी भाषा म वडियाँ-वडियाँ आखा प्रयोग होते हैं। जबकि हिन्दी म बडी बडी आख बोलत हैं। इसी तरह पजाबी म कुडियाँ आवन्दियाँ हन बोलत हैं, जब कि हिन्दी म लडकिया आती हैं। पजाबी का तक यह है कि बहुवचन की विभक्ति बहुवचन विशेषणा म और 'आवन्दी' जसी क्रियाओ म लगनी चाहिए। हिन्दी का तक यह है कि विशेषण की पथक सत्ता नही होती इसलिए विशेष्य की विभक्ति से ही उसका भी बहुत्व सूचित हो जाता है। बडी आखें है बडी कोई पथक चीज नही कि उसमे पृथक बहुत्व सूचक विभक्ति लगाई जाए। व्यथ का झमेला क्या बढाया जाए। बात ठीक भी है। और इसीलिए 'बडी बडी आँखें' कहने से अथ की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है। यदि कोई पथक चीज हो तब उसम पथक विभक्ति चाहिए। नदिया झीलें लहराती थी यहा 'नदिया' ठीक है।

हिन्दी के तक का निरसन पजाबी भाषा यह कह कर कर सकती है कि यदि ऐसा ही है कि विशेष्य की विभक्ति से ही विशेषण म बहुत्व सूचित हो जाता है, तो फिर बडा लडका आता है और बडे लडके आते है' किस आधार पर ? विशेष्य (लडके) म बहुत्वसूचक जो विभक्ति है उसी से विशेषण का बहुत्व समझ म आ ही जाएगा, तब बडा को बड क्या किया जाता है ? ह से बहुत्व सूचित हो जाता है तब आते क्या करत है ? इसका क्या उत्तर ? उत्तर यहा है कि लडकिया आती ह अच्छा लगता है पर 'लडके' आता है अच्छा नही लगता। इसीलिए वसा चलन है। नदी अपना रख किधर कर किधर न करे, इस पर किसी का नियन्त्रण नही।

सक्षेप म यह कि पडोसिन (पजाबी भाषा) का प्रभाव कि कही किसी ने आतियाँ जातिया लिख दिया। और सच तो यह है कि जस 'आते जाते लडके अच्छे प्रयोग मालूम दत है, उसी तरह आतिया-जातिया लडकिया भी एक लडी सा जान पडती है। परन्तु हिन्दी ने 'आती जाती लडकियाँ प्रयोग पसन्द किए। यह ब्रजभाषा अवधी आदि का प्रभाव है। वहा मीठी बातें बनावत ही प्रयोग होते है—मीठिया बातें' नहीं। इसी तरह आवति ह जमुना की तरग प्रयोग होत ह आवतिया ह नही। दिल्ली के पडोस म ब्रज है सटा हुआ अवध। फिर हिन्दी पूरब को चली। कानपुर, उन्नाव रायबरेली प्रयाग और काशी होती हुई वह कलकत्ते पहुची और फिर उस बीच म ही उन क्षेत्रो म साहित्य-सम्पत्ति मिली। तब फिर ब्रजभाषा का तथा पूरब की अवधी आदि भाषाओ की पद्धति उस पकडनी ही थी। पजाब की ओर तो उसने उस समय मुह किया हो नही। जब वह राष्ट्रभाषा बन गई तब तो सवत्र पहुचना ही था। परन्तु प्रारम्भिक अवस्था म आतियाँ-जातियाँ जसी चाल पजाबी की जरूर है।

'आतिया जातिया' पंजाबी ढंग पर है। खां साहब ने प्रतिज्ञा की है कि और किसी बोली की पुट न मिले। ऐसा जान पड़ता है कि वे पंजाबी थे और 'आतिया जातिया' आदि को किसी भिन्न बोली की चीज न समझते थे। आज भी हिंदी के धुरंधर पंजाबी लेखक 'मैंने कलकत्ते जाना है' लिखते बोलते हैं। उनके ध्यान में ही नहीं आता कि हिंदी में यहां 'ने' नहीं, 'को' विभक्ति लगती है। पंजाबी भाषा में तो 'रामसिंह दी निक्कियां कुड़ियां' जैसे प्रयोग होते हैं। हिंदी में 'राम की छोटी लड़की'। चलता है। लिखने में भी अन्तर है। हिंदी में 'ई' को 'इय' हो जाता है—लड़कियां पंजाबी में लिखते हैं 'कुड़िआं'। यानी स्वर का ह्रस्व करते हैं। 'आ' सर्वत्र उभय है। सो 'आती जाती सांसें' की जगह 'आतिया जातिया सांसें' को किसी भिन्न बोली (भाषा) की चीज नहीं समझना।

'जो भर दामा न चाहा, तो वह ताव भाव और कूद फांद, लपट झपट दिखाऊं जो देखते ही ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है अपनी चौकड़ी भूल जाय।'[१]

'घबराहट' आदि की तरह 'चपलाहट' प्रयोग है। उस समय ऐसे प्रयोग होते थे संस्कृत शब्दों में भी कहीं हिंदी के प्रत्यय लग जाते थे। हिंदी का 'सराहनीय' शब्द भी उसी पद्धति का है। 'चपलाहट' में प्रकृति (चपल) संस्कृत, प्रत्यय (आहट) हिंदी का है। सराहनीय में प्रकृति हिंदी और प्रत्यय संस्कृत का है। 'जाय' खां साहब का प्रयोग है। 'कोई राई जाव' लिखते थे। 'जाव आव' द्विवेदी युग तक चलते रहे, फिर 'जाव' 'जावेगा' 'आव आवेगा' आदि बन गए। साथ ही 'जाय' 'जायेगा' 'आय आयगा' भी चलने लगे। 'जाय जायगा' रूप भी अब तक चलते हैं। परन्तु 'आय आयगा' जैसे प्रयोग नहीं होते। आचार्य वाजपेयी ने 'हिंदी शब्दानुशासन' में तर्क-पूर्वक भाषा विज्ञान तथा व्याकरण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि 'जाए-जाएगा' और 'आए आएगा' जैसे रूप शुद्ध है, शेष सब अशुद्ध हैं। यह सब आगे विस्तार से इस प्रबंध में आएगा।

भाषा इंशा अल्ला खां की बहुत ही अच्छी है। 'इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझ से कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुंह से जीते जी न निकलती। पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम अल्हड़ हो। तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर ढनाव देखूंगी तो तुम्हारे बाप से कह कर ।'[२]

टकसाली भाषा है। ठेठ हिन्दी है। 'यदि' भी नहीं और 'अगर' भी नहीं। सर्वत्र जो है मेल है तो से।

इंशा अल्ला खां की भाषा में आजकल के लोग दोष निकालते हैं। कभी बहुत

१ रानी केतकी की कहानी।
२ वही।

है इनकी भाषा म पडिताउपन है और कभी कहते हैं अस्वाभाविकता है। यह कुछ नही समझनेवाला की बुद्धि का फेर है। उस युग म बठ कर देखना चाहिए। हाँ, उस एक चीज म पजाबी लटक जरूर है। कभी 'नाचती गाती थी' के साथ भी 'धूम मचातियाँ थीं' की धम दिखाई देती है—

'आतियाँ जातियाँ ठहराती फिरातिया थी। उन सभी पर सचारुच कथनिया, रामजनिया, डोमनियाँ भरी हुई अपन अपन करतबा म नाचती गाती बजाती, कूदती फांदती धूमें मचातियाँ अगडातिया जम्हातियाँ उगलियाँ नचातियाँ और ढुली पडतियाँ थी।'[1]

एक समा बाध दिया है नाचने गानेवालिया का। बस यही एक चीज पजाबी भाषा की है, जो मौके मौके पर खा साहब न ल ली है। शाय सब एकदम टकसाली हिंदी का है।

"एक दिन बठे-बठे यह बात ध्यान म चढी कि कोई कहानी एसी कहिए कि जिसमे हिदवी को छुट और किसी बोली की पुट न मिले तब जाकर मेरा जी फूल की कली के रूप म खिल।'[2]

कहिए की जगह आजकल 'कही जाए' अधिक चलता है। छुट की जगह 'छाड' 'अतिरिक्त' आदि शब्द आजकल चलते है। पुट का स्त्रीवर्गीय प्रयोग है। आजकल यह श॰" प्राय पु वग म चलता है। कली कच्च चून को भी कहते है, जो पानी पडन पर खिल उठता है। इसीलिए फूल न॰" दिया है।

'यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाडी का ध्यान रक्खे तो खटाई म क्या पडे और कडवा कसला क्यो हो?'[3]

रक्खा' जसे प्रयाग सन् १९२५ ३० तक हिन्दी मे खूब चलते रहे हैं और लिक्खा भी। इस समय आचाय वाजपेयी ने लिखा कि धातु 'रख' है न कि 'रक्ख' इस लिए रक्खा' जसे प्रयोग ठीक नही। बोलने म यदि कही 'रक्खा सुना जाता है तो बना रहे। 'रखा' देख कर भी वैसे लाग रक्खा ही पढेंगे। तक वाजपेयी जी ने यह दिया कि ऋण हिन्दी मे और मराठी गुजराती म समान रूप से चलता है, पर अपन अपने यहाँ का उच्चारण लोग कर लेते हैं।

हिन्दी म इसका उच्चारण रिण जसा होता है और मराठी गुजराती म रूण' जसा। इसी तरह अँग्रेजी मे अनेक शब्दा का उच्चारण देश भेद स भिन्न भिन्न होने पर भी लिखावट म भिन्न रूप ग्रहण नहा करते। इसम सुभीता रहा। भाषा दूर-दूर तक फलती है।

अब प्राय रखा लिखा जाता है। कोई उर्दू के ढग पर 'रक्खा' भी लिख दे तो उसकी मर्जी। खाँ साहब के समय रक्खा ही चलता था। उस पर कोई विवेचन

[1] रानी केतकी की कहानी।

न हुआ था। वह सब तो बीसवी शताब्दी के तृतीय दशक म हुआ।

लाल कवि, सदल मिश्र तथा इशा अल्ला खाँ की भाषा मे फारसी आदि के शब्द नही दिखाई देत। इशा अल्ला ने तो अपनी भाषा म अरबी, फारसी, तुर्की गँवारी भाषा के शब्द न आने दन की प्रतिज्ञा ही कर रखी थी। गँवारी से मतलब 'गँवारू' शब्दो के प्रयोग से है। साहित्य म ग्राम्य शब्द देना एक भारी दोष बतलाया गया है।

सो श्री इशा अल्ला खाँ हमारे मूर्द्धन्य पुरखा म है, जिन्होने ठेठ हिन्दी का रूप अपनाया। उन्ही की पद्धति पर महाकवि हरिऔध ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नाम का कथानक लिखा था, जो उन दिनो (१९२० के इधर उधर) आई० सी० एस० परीक्षा म भी चलता था।

प० सदल मिश्र

प० सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान' लिखा है। आप प० लल्लू जी लाल' के साथी थे और एक ही जगह (कलकत्ते म) काम करते थे। इनकी भाषा बडी मीठी है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध म महर्षि प० मदन मोहन मालवीय भी ऐसी ही भाषा बोलते लिखते थे।

मिश्र जी की भाषा 'लाल कवि' की ही तरह है। वसे अपनी अपनी शैली अलग होती ही है और शैली भेद भाषा के प्रवाह को भिन्न नही करता। उन्नीसवी शताब्दी की हिन्दी म और बीसवी शताब्दी की हिन्दी मे अन्तर है, परन्तु बीसवी शताब्दी की रहस्यवादी रचनाओ की हिन्दी और प० पद्मसिंह शर्मा तथा उग्र' जी की हिन्दी भिन्न भिन्न नही यद्यपि शैली भेद से उन मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

मिश्र जी की भाषा के जो उद्धरण लोगो ने दिए हैं उनम भी छापे की गलतियाँ हैं और इन गलतियो का लोग छापेवालो की न कह कर सीधे लेखक (मिश्र जी) के सिर थोप देते हैं। '(वह) बिछुरी हुई हरनी के समान चारो ओर देखन लगी। उसी समय एक ऋषि, जो सत्य धर्म म रत थे, इधन के लिए वहाँ जा निकले।'[1]

इस उद्धरण म 'एक' की जगह 'तक' छाप दिया गया है। इधन के लिए की जगह मुन्शी सदासुख लाल जी 'इधन के हेतु' लिखते। 'इधन के लिए' अद्यतन प्रयोग है।

अपने साथी लाल कवि की तरह मिश्र जी ने भी 'कब' की जगह 'कद' का प्रयोग किया है और 'कभी' की जगह 'कधी'। वही सधि न करके 'क' ही। इसके

1 श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—नासिकेतोपाख्यान पृ० २८

अतिरिक्त ब्रजभाषा तथा अवधी आदि का सम्बन्ध भी है 'सहज' का अनुरंजन 'सम्मन'। ब्रजभाषा में गम्भन का हम जोधपुर से स्मरण करा सन। खड़ी बोली (हिन्दी) के सहज का सब के सम्बन्ध का मिश्रण है। राष्ट्र भाषा हिन्दी में 'सहन' नहीं चलता और ब्रजभाषा में भी (।) विकरण नहीं पाता। ऐसी तरह 'लपट' 'काजर' आदि प्रयोग हैं। ब्रजभाषा और अवधी आदि में 'न' लगा कर अनुस्वार बनता है—

मूरति की नन्दिना समुभान्या।
नन्दिना नन्दि भूमि पै मारता है।[1]

यहाँ 'न' का 'नि' हो गया है और—

द्वार में आँगन में अगरवा बसन्त है।[2]

यहाँ 'न' तद्रूप है। अवधी में—

रन बर्जित। रहा न जाता।[3]

पहला बन्ध भूतकाल की क्रिया है, दूसरा वहाँ भाववाचक संज्ञा है—रहना जाना नहीं। 'न' विभक्ति अवधी में है नहीं।

बस इन साधारण बातों के अतिरिक्त सब बातें सब काल कवि की तरह है। ब्रजभाषा की यह छटा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि तक की हिन्दी में देखी जाती है।

मिश्र जी ने बंगला भाषा के भी शब्द ले लिए हैं, पर इस तरह कि उनका अर्थ समझने में किसी को कोई दिक्कत न हो। प्रसंगानुकूल वंश की जगह बंगला का गाछ शब्द रख देना कोई दोष नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के शुरू पर हिन्दी लेखकों ने भी बंगला और मराठी आदि के शब्द लेकर हिन्दी में खपा दिए हैं। आजकल तो यह प्रचार किया जा रहा है कि देश की विभिन्न भाषाओं के शब्द हिन्दी में लेने चाहिए। परन्तु अनावश्यक बेमेल शब्दों की भरती करके भाषा को कोई बिगाड़ेगा नहीं। आवश्यकतानुसार तो फारसी आदि विदेशी भाषाओं के भी शब्द हिन्दी ने लिए हैं। परन्तु अनावश्यक शब्दों की भरती जहाँ की गई, वहाँ विकृति तथा परकीयता की गन्ध भरी और फिर उसी (हिन्दी) भाषा का नाम 'उर्दू' हो गया, जिससे लोग बचने लगे। कलकत्ते में आज भी हिन्दी भाषी और हिन्दी व्यवहारी जन बोलते हैं 'सको तो खरीद लो', 'सको तो कर दो' आदि। मिश्र जी ने ऐसे शब्द पसन्द किए और अपनी रचना में दिए, पर ये प्रयोग आगे चले नहीं। मिश्र जी साहित्यिक थे। 'खरीद सको तो खरीद लो' की अपेक्षा 'सको तो खरीद लो' में लाघव देखा, 'खरीद' की पुनरुक्ति नहीं और अर्थ स्पष्ट। 'कर सको तो करो' में वह नहीं है। परन्तु मिश्र जी की पद्धति आगे चली नहीं। किसी

१ ब्रजभाषा का व्याकरण पृ० २५७
२ वही। ३ वही।

प्रयोग का करना रखना जन प्रवृत्ति पर है।

'चित्र विचित्र सुन्दर सुन्दर बड़ी बड़ी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कम्पनी महाराज से सदा फूला फला रहे कि जहा उत्तम उत्तम लोग बसते हैं और देश देश से एक से एक गुणी जन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं।'

'अटारिन से' में विभक्ति तो राष्ट्रभाषा की है और प्रकृतिगत बहुत्व ब्रजभाषा पद्धति पर है। 'अटारियों से' हिन्दी का अपना प्रयोग है। परन्तु उस समय के इन हिन्दी-लेखकों पर ब्रजभाषा का वैसा ही प्रभाव था, जैसा कि आज के लेखकों पर अंग्रेजी आदि का है। वचन विन्यास अपनी भाषा की पद्धति पर ही होना चाहिए। शब्द आदि चाहे जहां से ली हुई हो। हिन्दी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में गया पर वहाँ वचन आदि वहीं की पद्धति पर चलना है 'ब्रिंग माई धोतीज (Bring my Dhoties) चलता है ब्रिंग माइ धोतियां नहीं। परन्तु हिन्दी वाला पर इस युग में भी अंग्रेजी का भूत सवार है और 'चार फुट लम्बा सॉप' को 'चार फीट लंबा' लिखते-बोलते हैं।[1] यह 'अटारिन से' जैसा ही प्रयोग है। सौ बरस बीतने पर भी हिन्दी की प्रकृति न पहचान पाए और फिर उस युग के साहित्यकारों की भाषा का उपहास करते हैं—उनकी भाषा में पण्डिताऊपन बहुत है इत्यादि। अभी तक लोग हिन्दी में 'दम्पति' को 'दम्पती' लिख रहे हैं और 'दम्पति' लिखने वालों को डांट भी देते हैं कि 'दम्पति' गलत प्रयोग क्यों करते हो?[2] प० हरिशंकर शर्मा का एक लेख इस विषय पर निकला था कि हिन्दी में दम्पति गलत चल रहा है। आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में स्पष्ट किया है कि संस्कृत में 'जाया' और 'पति' का रूप 'दम्पति' है 'दम्पती' नहीं। 'दम्पति' का द्विवचन रूप वहां 'दम्पती' होता है, जैसे 'कवि' का 'कवी'। हिन्दी में ऐसे शब्द द्विवचन में तदवस्थ रहते हैं, दीर्घान्त नहीं होते। संस्कृत में 'द्वौ कवी मया दृष्टौ' प्रयोग होगा, परन्तु हिन्दी में मैंने 'दो कवि देखे' होगा। यहाँ 'कवी' देखे न होगा। इसी तरह 'दम्पति' रहेगा, 'दम्पती' न होगा। हिन्दी की प्रकृति न पहचानने से—'अटारिन से', 'दम्पती' तथा 'चार फीट लंबा' जैसे प्रयोग लोग कर देते हैं और शुद्ध लिखने वालों को (फीट, दम्पती वाले) उल्टे डाँटते हैं। जैसे 'चार गज लंबा' उसी तरह 'चार फुट लंबा'। खैर उस समय 'अटारिन' जैसे प्रयोग होते थे। आगे निखार हो गया और अब कोई 'अटारिन से' नहीं लिखता-बोलता। हमें भी 'दम्पति' ही ठीक प्रतीत होता है और भाषा में उसी का प्रचलन भी हुआ है।

---

१ हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ७६-७८

२ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० २०२

एक से एक के आगे 'बढ़ कर' 'कायम' छूट गया है। वसे 'बढ़ कर' के बिना भी काम खटकता नहीं है। एक से एक जवान दिखाई दिए प्रयोग होते हैं। 'बढ़ कर' स्वयं आ जाता है। 'बठे-बठे चित्त म आई'—यहाँ कर्ता (बात) का अध्याहार है। यह प्रसंग प्राप्त है।

'शोभायमान' उस समय हिन्दी म अपना गढ़ा हुआ रूप है। एक और भी शब्द उस समय गढ़े गए थे, जसे कि 'सतोगुणी'। 'तमोगुणी' 'रजोगुणी' के मेल म 'सतोगुणी' विशेषण हिन्दी ने बहुत बढ़िया बनाया। संस्कृत म सत्त्व, रजस, तमस तीन गुण हैं। हिन्दी म 'सत्त्व' का 'सत' कर लिया, 'रज-तम' से मेल बठ गया। फिर संस्कृत सामासिक विशेषण 'रजोगुणी' 'तमोगुणी' के मेल म 'सतोगुणी' बना लिया और ऐसा बढ़िया बनाया कि संस्कृत वाले भी मोह म पड़ जाएँ। 'सतोगुण' तथा 'आवागमन' आदि हिन्दी की अपनी टकसाल के सिक्के हैं। ऐसा ही 'शोभायमान' की ही तरह 'चलायमान' है। मन चलायमान हो गया, और हिन्दी का 'मनोकामना' शब्द भी अपना है।

'कम्पनी' को लोग कोई 'वीर नपति' समझा करते थे, जिसका हिन्दी के निखार से कोई मतलब नहीं। "सदा फूला फला रहे कि जहाँ," 'यहाँ 'कि' अल्प विरामार्थ है। उस समय कामा का चलन न था। 'आय आय' तथा 'करि' आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। उस समय ऐसा ही चलन था।

सारांश यह कि उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हिन्दी उर्दू के गद्य साहित्य का आरंभ युग है। इस समय तक उर्दू का रूप एकदम भिन्न हो गया था और फारसी आदि न जानने वालों के लिए वह (उर्दू) भाषा एकदम अर्थ हीन हो गई थी। इसके प्रमाण मे आज भी अदालती सूचनाएँ (समन) सामने हैं जो (हिन्दी के नाम से) साधारण जनता के लिए समाचार पत्रों म छपती हैं। इसी उर्दू से बिलगाव का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी मे लाल-युग के हिन्दी-लेखकों ने किया। वसे हिन्दी का रूप तो लगभग हजार वर्ष पहले का भी सामने है और फिर अमीर खुसरो की 'बीसों का सिर काट लिया' आदि पंक्तियों मे बहुत साफ है। आगे जो विकार आ गया था, उसे हटा कर निज रूप मे हिन्दी को लाने का प्रयत्न ही शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे—शताब्दी के प्रारंभ मे ही—हमारे पुरखों ने किया।

मसीही धर्म प्रचारक और हिन्दी—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हम उन मसीही धर्म प्रचारकों—ईसाई मिशनरियों—की हिन्दी सेवाओं का स्मरण कर लेना बहुत जरूरी है जिनका प्रचार केन्द्र (कलकत्ते के समीप) श्रीरामपुर था। उस समय सम्पूर्ण भारत का शासन केन्द्र कलकत्ता था। वहीं मसीही धर्म प्रचार का केन्द्र बना। दूरदर्शी मसीही विद्वानों ने देश भर म प्रचार करने का माध्यम हिन्दी को

बनाया। बहुत बडा प्रेस लगाया और अपने धर्म ग्रंथो का प्रणवत प्रकाशन वहाँ से किया।

मसीही धर्म ग्रंथो की भाषा 'शुद्ध हिंदी' थी। न फारसी आदि शब्दो की भरमार, न अंग्रेजी शब्दो का लदान और न 'प्टेशन' जसे सस्कृत व्याकरण का प्रभाव।

यह लाल कवि का युग देखा, उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हिंदी का रूप। अगले अध्याय मे अब उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध देखिए हिंदी का भारतेंदु युग।



एक से एक के आगे बढ़कर इस्तेमाल हो रहा है। जैसे 'बहुधा' के बिना भी काम चल सकता है। एक से एक बढ़कर निकाले किन्तु प्रयोग होते हैं। बढ़कर हटा भी जाता है। 'अन्धकार मिटा दिया'—इसी धारा (धार) का प्रयोग है। यह प्रयोग प्रशस्त है।

'शोभायमान' उस समय हिन्दी में चलता पड़ा रहा था है। इस ओर ध्यान उस समय गया है, जब कि 'तमोगुणी'। 'तमोगुण' 'रजोगुण' के मेल में 'तमोगुणी' विशेषण हिन्दी ने अपना बढ़िया बनाया। संस्कृत में सत्त्व, रजस् तमस् तीन गुण हैं। हिन्दी में 'सत्त्व' का सत कर लिया और 'रज-तम' ज्यों का त्यों ले लिया। फिर संस्कृत तद्धित विशेषण 'रजोगुणी' 'तमोगुणी' के मेल में 'सतोगुणी' बना लिया और ऐसा बढ़िया बनाया कि संस्कृत वाले भी मोह में पड़ जाते। 'सतोगुण' तथा 'आवागमन' आदि हिन्दी की अपनी टकसाल के सिक्के हैं। ऐसा ही 'शोभायमान' की ही तरह 'पलायमान' है। मन गतायमान हो गया और हिन्दी का 'मनोकामना' शब्द भी अपना है।

'कम्पनी' को लोग कोई 'वीर नृपति' समझा करते थे, जिसका हिन्दी में निखार सा कोई मतलब नहीं। ... पूछा गया है कि जहाँ ..., 'यहाँ 'कि' शब्द विरामार्थ है। उस समय कामा का चलन न था। 'आय पाय' तथा 'करि' आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। उस समय ऐसा ही चलता था।

सारांश यह कि उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हिन्दी उर्दू के गद्य साहित्य का आरम्भ-युग है। इस समय तक उर्दू का रूप एकदम भिन्न हो गया था और फारसी आदि न जानने वालों के लिए वह (उर्दू) भाषा एकदम अर्थ हीन हो गई थी। इसके प्रमाण में आज भी अदालती सूचनाएँ (समन) सामने हैं जो (हिन्दी के नाम से) साधारण जनता के लिए समाचार पत्रों में छपती हैं। इसी उर्दू से छुटकारा का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी में 'लाल-युग' के हिन्दी लेखकों ने किया। वैसे हिन्दी का रूप तो लगभग हजार वर्ष पहले का भी सामने है और फिर अमीर खुसरो की 'खीरा का सिर काट लिया' आदि पक्तियाँ में बहुत साफ है। आगे जो विकार आ गया था, उसे हटा कर निज रूप में हिन्दी को लाने का प्रयत्न इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में—शताब्दी के प्रारम्भ में ही—हमारे पुरखों ने किया।

मसीही धर्म प्रचारक और हिन्दी—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हम उन मसीही धर्म प्रचारकों—ईसाई मिशनरियों—की हिन्दी सेवाओं का स्मरण कर लेना बहुत जरूरी है जिनका प्रचार केन्द्र (कलकत्ते के समीप) श्रीरामपुर था। उस समय सम्पूर्ण भारत का शासन केन्द्र कलकत्ता था। वहीं मसीही धर्म प्रचार का केन्द्र बना। दूरदर्शी मसीही विद्वानों ने देश भर में प्रचार करने का माध्यम हिन्दी को

बनाया। बहुत बड़ा प्रेस लगाया और अपने धम-ग्रन्था का प्रणवत प्रकाशन वहा स किया।

मसीही धम ग्रथा की भाषा 'शुद्ध हिन्दी' थी। न फारसी आदि शन्दा की भर मार, न अग्रेजी शब्दा का लगान और न प्टेशन' जसे मस्कृत व्याकरण का प्रभाव।

यह लाल कवि का युग देखा, उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वाद्ध की हिन्दी का रूप। अगले अध्याय म अब उन्नीसवी शताब्दी का उत्तराद्ध देखिए, हिन्दी का भारतेन्दु-युग।



चौथा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

भारतेन्दु युग

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिंदी का भारतेन्दु युग कहलाता है। काशी निवासी बाबू हरिश्चन्द्र जी हिंदी के इस युग के 'लाल' हैं। काशी के ही बाबू शिवप्रसाद जी भी थे, जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने 'सितारे हिंद' का पदक और 'राजा' का पद प्रदान कर अपनी कृतज्ञता और उदारता प्रकट की थी। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' थे तो राष्ट्रीयजनता ने बाबू हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु के रूप में ग्रहण किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सितारे हिंद' को निस्तेज कर दिया। राजा शिवप्रसाद पहले हिंदी के प्रबल पक्षपाती थे परन्तु सरकारी शिक्षा विभाग में अधिकारी थे और सरकार ने हिन्दी का राष्ट्रीय रूप विकृत करने के लिए जब 'हिंदुस्तानी' नाम की भाषा चलाने का उपक्रम किया तो राजा साहब भी बदल गए। वे हिंदी में फिर फारसी आदि के शब्दों की भरमार करने का समर्थन करने लगे। उनकी इस प्रवृत्ति का विरोध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हिंदी जगत ने किया और फिर यह युग 'भारतेन्दु युग' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य नाटक, प्रहसन, निबंध आदि विविध रूपों में साहित्य रचना की। उनके साथी सहयोगियों में पं० राधाचरण गोस्वामी पं० मधुसूदन गोस्वामी पं० बालकृष्ण भट्ट पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि प्रमुख थे। इस युग में भी हिंदी उन्हीं तीनों रूपों में चली। १—व्रजभाषा के पुट में। २—फारसी आदि के प्रचलित शब्द लेकर और ३—अपने निजी ठाट में। यहाँ हम कुछ उद्धरण सामने रख रहे हैं जिनमें भाषा के ये रूप भेद आप स्पष्ट देख सकते हैं।

भारतेन्दु की भाषा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वसम्पादित 'कविवचन-सुधा' पत्रिका में भाद्रपद ५ संवत १९२७ में 'दूसरी महाभारत' शीर्षक देकर लिखा था—

"जिस समय कि स्पेन देश का राज्य पद शून्य हुआ तो 'हाहनजोलन' नामे

एक कुंवर को प्रशिया के महाराज ने उस पद पर नियत करने की इच्छा प्रगट की परंतु फ्रांस के महाराज को यह बात प्रसन्न न आई और उन्होंने उक्त महाराज के पास संदेशा भेजा पर इसके अनंतर होहनजोलन ने उस पद का त्याग कर दिया।

'जिस समय' से वाक्य शुरू हुआ और 'त्याग दिया' पर आकर रुका है। यहाँ पूर्ण विराम (।) का चिह्न लगा है। बीच में कोई किसी तरह का विराम चिह्न नहीं है। शीर्षक 'दूसरी महाभारत' है। आजकल 'दूसरा महाभारत' लिखा जाता है। पुंप्रयोग में 'युद्ध' का ख्याल है और स्त्रीवर्गीय प्रयोग में 'लड़ाई' मन में है। आजकल पुंप्रयोग ही चलता है। 'किताब' की छाया से 'पुस्तक' हिंदी में स्त्रीवर्गीय चल रही है—'पुस्तक अच्छी है'। पहले बोलते थे 'व्याकरण पढ़ ली'। विद्या ध्यान में होने से आजकल 'व्याकरण पढ़ा' बोलते है। संस्कृत भाषा का संस्पर्श में संस्कृतम रूप मिल गया—'सत्कृते नुद्यताम।'

'सन्देश' तत्सम और 'संदेशा' तद्भव शब्द है। भारतेंदु ने इनके बीच का रूप 'सन्देशा' रखा है। 'नाम' जैसे प्रयोग अब नहीं होते। 'पसन्द' की जगह 'प्रसन्न' प्रयोग है। यह पद्धति आगे भी कुछ लोगों ने अपनाई और सन १९२० के बाद तक कई लेखक 'कार्यवाई' को 'कार्यवाही' तथा 'प्रोग्राम' को 'पुरोगाम' जैसे रूपों में लिखते रहे है। राजकुमार (प्रिंस) की जगह 'कुंवर' शब्द है जो अवधी काव्यों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। 'जिस समय कि' में 'कि' का प्रयोग उस समय की स्थिति सूचित करता है। आज भी 'जब कि तुम स्वयं नहीं मानते तब ' इस तरह 'कि' का प्रयोग होता है।

'फ्रांस के महाराज चाहते थे कि इस बात का प्रबन्ध प्रशिया के महाराज से होय जिसमें कि फिर कभी होहेनजोलन उस पद की इच्छा न करे।'[1]

'इस बात का प्रबन्ध' का अर्थ है 'इस समस्या का निपटारा'। 'होय' ब्रजभाषा का प्रभाव है ही। 'जिसमें कि' की जगह आजकल 'जिससे कि' लिखते-बोलते हैं। 'करे' का प्रयोग ब्रजभाषा आदि के प्रभाव से है। ऐसे प्रयोग बहुत आगे तक चलते रहे। द्विवेदी युग के प्रसिद्ध लेखक भी 'करे-करेगा', 'चले चलेगा' जैसे प्रयोग करते रहे। प्रारम्भ में स्वयं द्विवेदी जी भी ऐसे प्रयोग करते थे। परन्तु आगे फिर 'करे करेगा' प्रयोग स्थिर हुए। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ जो लेख पहुंचते थे उनके 'कर' आदि की जगह 'करे' जैसे रूप सम्पादक (द्विवेदी जी) कर देते थे। यों एकरूपता आ गई। उर्दू में 'करे-करेगा' जैसे प्रयोग होते ही थे। हिन्दी ने भी वही रूप ग्रहण कर लिए। अन्यथा—'कर-करगा' आदि का जोर बढ़ता क्योंकि ब्रजभाषा में ही नहीं, पाञ्चाली तथा अवधी में भी 'जो कर सो पाय', 'सामु बन तव है' इस तरह के

१ दूसरी महाभारत।

प्रयोग होते हैं और इन्ही के क्षेत्र में आधुनिक हिन्दी साहित्य की जड़ जमी। परन्तु दिल्ली मेरठ आदि की ओर 'करेगा' जसे रूप ही प्रचलित थ, जो उर्दू म गृहीत हो गए। इस तरह करो आदि रूप हट कर करा जस रहे—चले।

इधर कुरुजनपद (मेरठ के इधर उधर) की जनभाषा स्वर लाघव पसन्द करती है। 'भगिनी का तदभव रूप अपने चिरपरिचित स्वरा के साथ बहिनी बन कर अवधी पाञ्चाली आदि म चलता है जो इधर (मेरठ की ओर) आकर 'बहन' बन गया है। तालु की जगह कठ ने ल ली। न' को ण करके बहण इधर बोलते हैं। परन्तु फारसी म ण है नही, फलत फारसी के अभ्यस्त मुसलमानो ने बहन उर्दू मे रखा। इसी तरह अग्नि का तदभव रूप आगि' और आगी है—जहाँ जर है वह आगी और आगि लगे ब्रज के बसिर मह, 'पानी म आगि लगावै लुगाई।' कुरुजन पद म 'इ और इ न रहकर 'अ चला चलता है। यहाँ आग रूप प्रचलित है। यही उर्दू म चला और फिर साहित्यिक हिन्दी म भी रम गया। अपभ्रंश काव्य म बहिणि और अग्गि जसे प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि भगिनी का 'बहिनी 'बहिनि' रूप णकार प्रिय साहित्यिको ने 'बहिणि प्रसन्द किया था।

खर मतलब यह है कर जैसे प्रयोग आज की साहित्यिक हिन्दी म कोई नही करता है।

उसी दिन से आज लौं उन दोना महाराजा म युद्ध हो रहा है।'[1]

'आज लौं ब्रजभाषा की झलक है आज तक। ब्रजभाषा मे 'तक नही चलता और हिन्दी म 'ब्रजलौ नही लिया जाता। ननिनि मौं तरसय कहाँ लौं 'कहाँ लौ हियो विरहागि म तय जम ब्रजभाषा प्रयोग है। एक दूसरा 'लौ अव्यय यहाँ सादृश्य बोधक भी है।

'यह भी सुनने म आया कि फ्रांस का महाराज पकड गया है देख इस युद्ध का क्या परिणाम होता है फ्रांस म स्वाधीन राज्य हो गया है और फ्रांस की रानी बेलजियम का चली गयी है।'[2]

पकडा गया है आजकल बालते हैं। स्वाधीन राज्य आया है जनतन्त्र शासन क लिए।

सातवी तारीख को तार पर समाचार आया है प्रशियन लोग पारिस के पास पहुच गए हैं और फ्रांस लोगों न निश्चय कर लिया है कि जब तक दाना दल ■ एक मनुष्य भी रहै युद्ध होगा।[3]

तार पर की जगह आज तार म चलता है। पारिस आजकल परिस या परिस लिखा जाता है। फ्रांस लोगा न म फ्रांस क बाद का 'क' गायब है जो छापे की कृपा जान पड़ती है। दाना दल क एक मनुष्य भी म गडबडी है—दोना दलों म एक भी मनुष्य प्रयोग ठीक है।

१ दूसरो महाभारत।
२ वही। ३ वही।

भारतेन्दु बाबू की भाषा का यही रूप सर्वत्र है। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु की भाषा में 'करै' 'करो' आदि रूप तो है ही गई 'भए' आदि क्रिया रूप भी हैं जो ब्रजभाषा के प्रभाव हैं। और होई जायगा जैसे प्रयोगों में 'ही' से 'ह' का उड़ जाना भी ब्रजभाषा का ही प्रभाव है। ब्रजभाषा में 'तोही सो उठि मैंनिहीं राखि दाहिनिहि दरि' आदि प्रयोग 'ही' से स्पष्ट हैं, परन्तु 'तेरो करयो सौ घरोइ रहैगो' आदि में 'ह' का लोप करने के भी प्रयोग सामने हैं। 'सोई करैगो' आदि तो नित्य प्रयोग हैं—'सो ही' कभी कहीं सुनाई नहीं पड़ता। भारतेन्दु ने भी 'आ' के बाद (हिन्दी में) 'ह' हटा कर 'होई जायगा' जैसे प्रयोग किए है। 'आजकल' 'हो ही जाएगा' प्रयोग होता है।

परन्तु 'वही बात तुमने कही', 'यही तो मैं भी कहता हूँ' आदि प्रयोग 'ह' लोप से आज भी होते हैं। 'वह ही', यह ही कोई नहीं बोलता लिखता, भले नहीं लगते।

संस्कृत तद्भव शब्दों की ओर सहज प्रवृत्ति भारतेन्दु की थी और विदेशी (फारसी आदि के) शब्द भी वे तद्भव रूपों में ही प्रयुक्त करते थे—'कफन' 'जाफ्त' 'खजाना' आदि। तद्रूप 'कफ़न' आदि उन्हें हिंदी में पसन्द न थे। परन्तु उनके बाद काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कफ़न' आदि ही हिंदी में चलाने का उद्योग किया, जिसका विरोध उसी समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया परन्तु 'सभा' के नगाड़ा में गुप्त जी की ध्वनि विलीन हो गई। सब 'कफ़न' जैसे प्रयोग करने लगे और हिन्दी विकृत होने लगी। आगे चल कर 'सभा' और बाबू बालमुकुन्द गुप्त की चर्चा में यह प्रसंग कुछ विस्तार से लिखा जाएगा।

पं० प्रतापनारायण मिश्र

कानपुर के पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु मण्डल में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी और भारतेन्दु की वयस संबंधी छुटाई बड़ाई केवल छह वर्ष की थी। पूरे साथी थे। मिश्र जी की भाषा देखिए—

'अपना जीवन चरित्र लिखने से पहले अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देना योग्य समझ के यह बात सच्चे अहंकार से लिखना ठीक है हमारे आदि पुरुष भगवान विश्वामित्र बाबा हैं जिनके पिता गाधि महाराज और पितामह कुशिक महाराजादि कान्यकुब्ज देश के राजा थे। पर हमारे बाबा ने राज्य का झगड़ा छोड़छाड़ के निज तपोबल से ब्रह्मर्षि की पदवी ग्रहण की और यहाँ तक प्रतिष्ठा पाई कि सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि हुए। कश्यप, अत्रि, भरद्वाज विश्वामित्र गौतम जमदग्नि, वशिष्ठ'

सप्तर्षि हैं। राज्य छोड़ने पर भी राजसी ढंग नहीं छोड़ा। यदि सातों ऋषियों की मूर्ति बनाई जाय तो क्या अच्छा दृश्य होगा कि तीन ऋषि इस पार्श्व में होंगे तीन उस पार्श्व में और बाबा मध्य में।'[1]

समझ में जगह लालबत्ति बबत समझ लिखते। आजकल समझ कर चलता है। दोनों के बीच में है समझ के। मिश्र जी की मातृभाषा (पञ्चाबी) में—समुझि के चलना है। उसी का साहित्यिक रूप है समझ के। काम करके चलूँगा जैसे प्रयोगों में ही आजकल के दिखाई देता है।

महाराजादि की जगह आजकल महाराज आदि रूप चलते हैं सन्धि किए बिना। सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि ये भाषा सम्बन्धी नहीं, साहित्यिक त्रुटि है। महर्षियों में महर्षि ही ठीक। सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि ठीक नहीं। चौथे मात्र से ही काम चल सकता था। यह सप्तर्षि हैं में ये उर्दू ढंग पर है। मिश्र जी के अनुयायी बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी यह एकवचन बहुवचन दोनों में रखते थे। उर्दू में यह ही चलता है—यह सूरत इलाही।

आचार्य द्विवेदी ने जब भाषा परिष्कार का काम शुरू किया और लिखा कि 'यह का बहुवचन ये होना चाहिए, तो गुप्त जी ने मजाक उड़ाते हुए 'ये को गँवारू' बतलाया था। परन्तु आगे बहुवचन ये ही हिन्दी ने स्वीकार किया क्योंकि ब्रजभाषा आदि में ये ही चल रहा था। हाँ वह का बहुवचन वे वहाँ है। जिन दिन देखे वे सुमन'। वे का ही रूपान्तर वे' है या वे का रूपान्तर 'वे समझ लीजिए।

क्या अच्छा दृश्य होगा' की जगह आज क्या ही अच्छा दृश्य होगा चलता है।

निज तपोबल से उन्होंने स्वर्ग में बहुत से तारागण एवं पृथ्वी पर बहुत अन्न और पशु भी उत्पन्न किये। यह बात अन्य मतावलम्बी अथवा आजकल के अंग्रेजीबाज न मानें तो हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि सभी के मतप्रवर्तक और धर्मचालकों के चरित्र में आश्चर्य कर्म पाये जाते हैं। फिर हमीं अपने बाबा की प्रशंसा में यह बात क्यों न मानें ?'[2]

'बहुत अन्न की जगह बहुत से नए अन्न' चाहिए। चरित्र में' की जगह जीवन में आजकल चलता है। 'चरित्र ऐसी जगह चलता है—उनके चरित्र में कोई धब्बा नहीं कोई दाग नहीं।

---

१ ब्राह्मण पत्र के पाँचवें खण्ड की २३५ संख्या से
बालमुकुन्द गुप्त निबंधावली प्रथम भाग पृ० ६७
सम्पादक श्री झाबरमल्ल शर्मा श्री बनारसी दास चतुर्वेदी
२ गुप्त निबंधावली पृ० ६७

'मतप्रवनक' और वश चालको की जगह 'मतप्रवतवा और वश चालक' ठीक रहता ।

ये वहुत साधारण बातें हैं और उस समय इन पर कोई ध्यान न देता था । भारतेंदु की भाषा से मिश्र जी की भाषा अधिक साफ है, मिलान करके देख लीजिए । परन्तु उस समय इस तरह भाषा के रूप पर कोई ध्यान न देता था । सब कुछ चलता था । भाषा सबन्धी विचार प्रकट न हुए थे । भाषा के रूप पर विचार तो बीसवीं शताब्दी के प्रारभ म प्रारभ हुए । इसलिए उन्नीसवी शताब्दी की (किसी भी लेखक की) भाषा को गलत कहना भारी गलती है ।

प० बालकृष्ण भटट

भटट जी भारतेन्दु युग के प्रमुख हिन्दी लेखक हैं । इनकी भाषा भी मिश्र जी की भाषा की तरह साफ और सुबोध है । अतर यह कि मिश्र जी उर्दू (फारसी आदि) के प्रचलित शब्द दे कर रस पैदा करते थे और भटट जी (सस्कृत के विद्वान होने के कारण) प्रचलित सस्कृत शब्द तथा सस्कृत सूक्तियो से भी भाषा को समृद्ध करते थे । नीचे इन की भाषा के नमूने देखिए—

'मनुष्य के लिए आयु भी उन भाग्यवानी बातो म है, जिसके बडे होने की इच्छा सब को होती है और जिसके लम्बे होने से कभी कोई नही अघाता । पसठ बरस के हो गये, पोते नाती दजनो की सख्या तक पहुच गये अग अग शिथिल पड गये, उठत-बठत कांखते है । कान ने अलग जवाब दे दिया—सुन नहीं पडता । कमर भुक गयी । आख अलग धोखा द गयी तो भी जीने से न अघाते । रोज भोर उठ देवता पितर मनाते हैं—थोडा और जीते कनुआ के भी लडका हो जाता, परपोता देख लेते सोने की सीढी चढ तब मरते ।'[1]

भाग्यवानी भटट जी का टकसाली प्रयोग है । भाग्यवान का तदभव रूप 'भाग्यवान' और उसमे भाववाचक हिन्दी का अपना तद्धित प्रत्यय 'ई' लगा कर 'भाग्यवानी' । जैसे सावधान से 'सावधानी' । 'उन भाग्यवानी बातो मे' की जगह 'भाग्यवानी बातो म' एक अच्छा रहता । भाग्यवानी म प्रक्रिया गौरव है जो भाषा को पसन्द नही । भाग्य या 'सौभाग्य' चाहिए । भाग्य की बात है को 'भाग्यवानी की बात' कहने से लोग नाक को घुमा कर पकडना कहेंगे । इसी तरह 'सौभाग्यम' की जगह 'सौभाग्यवत्ता' सस्कृत म असुन्दर प्रयोग है ।

'द गयी' और 'तो भी' उस समय चलते ही थे । वर्ष की जगह तद्भव 'बरस' बढ़िया प्रयोग है ।

१ भट्ट निबन्धावली—'दीर्घायु' पाठ पृ० ११०

'परपोता' को लोग पडपोता भी बोलते हैं। आजकल 'पडपोता' ही चलता है। दादा पडदादा और पोता पडपोता'। सस्कृत 'प्र' का तदभव रूप पड' है—'प्रपितामह'— पडदादा और प्रपौत्र—पडपोता। 'प्र' का रूपान्तर 'पर' और फिर 'पर' का 'पड'। पूरब म 'पर' ही चलता है—'दादा—परदादा' और 'पोता-परपोता' आदि। सस्कृत का लघु शब्द स्वार्थिक 'क' प्रत्यय करके लघुक' और जनभाषा म (वर्णव्यत्यय) से— घलुक। घ' से अल्पप्राण 'ग' उड कर 'ह' मात्र रह गया— हलुक'। कटोरवा बहुत हलुक है—कटोरा बहुत हलका है। यानी 'लघुक' का 'हलुक' रूप पाञ्चाली आदि म और हलुक का 'हलका' रूप हिन्दी (राष्ट्र भाषा) म। इसी तरह प्र का रूपान्तर पर पाञ्चाली आदि म और पड राष्ट्र भाषा म। यहाँ अब पड पोता ही चलता है यह अलग बात है कि भटट जी प्रयागवासी थे।

किन्तु विवेकी बुद्धिमान ससार की असारता ने जिसके मन म भरपूर कदम जमा लिया है वे लोग एसा नही मानते।'[१]

भट्ट जी विराम चिन्ह प्राय यथास्थल देते थे। उनके कितने ही वाक्यो मे वसे विराम चिन्ह हम भट्ट निबन्धावली म नही मिले। यह सम्मेलन' का प्रकाशन है। पता नही भट्ट जी ने ही वसा लिखा था या प्रकाशक—सम्पादक जिम्मेदार हैं। इस समय भट्ट जी का हिन्दी प्रदीप मेरे सामने नही है। परन्तु सम्मेलन' प्रामाणिक सस्था है। भट्ट निबन्धावली' का सम्पादन प० देवीदत्त शुक्ल (भू० पू० सरस्वती सम्पादक ने और भट्ट जी के पौत्र धनञ्जय भट्ट) ने किया है। इसलिए इसके प्रामाणिक होने मे सन्देह की गुजाइश बहुत कम है। वे विवेकी बुद्धिमान ऐसा नहा मानते जिनके मन मे ससार की असारता ने भरपूर कदम जमा लिया है' सुबोध प्रयोग है। परन्तु यदि वसा ही विन्यास रखना हो तो विराम चिन्ह अपक्षित है।

किन्तु विवेकी बुद्धिमान—ससार की असारता ने जिनके मन म भरपूर कदम जमा लिया है—ऐसा नही मानते[२] ऐसा ठीक। जिसके छापे की गलती जान पडती है। भट्ट जी को एकवचन-बहुवचन का पूरा ध्यान रहता था। परन्तु लम्बे वाक्य कर देने से भूल भी हो जाती है। वे अल्पायु को ही बडी बरकत कहते हैं। कदम बरकत जसे प्रयोग भी भट्ट जी करते थे जो उस समय हिन्दी मे चलते थे। अल्पायु ही को सभवत छापे का उलट फेर है।

अल्पायु को ही चाहिए। वसे प्रकृति और प्रत्यय के बीच म ही अव्यय आ ही जाता है— आज ही से शुरू कर दो उभयविध प्रयोग होते हैं और सवनामा म तो ही कट छँट कर 'विभक्ति से पहले आ ही जाता है—इसी से पूछो उसी म रख दो। यहाँ इस' और उस के आगे (विभक्ति से पहले) ही है। इस ही से उस ही

१ भट्ट निबन्धावली— दीर्घायु' पाठ, पृ० ११०

म प्रयोग नही होत । अच्छा जसा लगे । 'अल्पायु' ही को अच्छा नही लगता ।

भट्ट जी मुसलमाना की चर्चा करते समय फारसी आदि के शब्द खूब देत थे—

'जिक्रिर है, किसी फकीर कामिल ने आ के नवाब खानखाना स कहा मैं तुम्हारे लिए दुआ करता हू और तुम को एक ऐसी जडी बूटी दूगा कि जिस खाकर तुम या ता अमर हो जाओगे या हजारो बरस जिओगे। नवाब खानखाना न जवाब दिया, मैं एसी बूटी कभी न खाऊँगा। फकीर साहब मुस्किराए और पूछा क्या ? नवाब बोले—वह आप की बूटी आप ही का मुबारक रहे। मैं अमर या दीर्घायु होकर क्या करूगा ? मरे ब धु मित्र लोग कुटुम्ब सबो की मौत मेरे सामने होगी तो मैं कहाँ तक उनके वियोग का दुख सहता रहूगा ?' [1]

'जिक्र' का 'जिक्रिर' तदभव रूप है, कही 'जिकर' भी चलता है। कामिल आदि दशनीय हैं। सबो का प्रयोग चित्य है—आजकल भी लोग कर जाते है ? 'ओ' विकरण बहुत्व-बाधन करता है। 'बीस छात्र आए' 'बीसो छात्र आए'। 'लडके का' लडका का। परन्तु 'सब' कह दिया तो फिर और अधिक क्या। 'सब की मौत' ठीक और अवधारण हा ता 'सभी की'। ही से अवधारण है। कोई-कोई तो सभो को भी लिख देत है।

परन्तु 'अनेको' का विश्वास एसा है, यहा 'अनेको' म 'ओ' गलत नही है। 'अनेक' का अथ दो भी हो सकता है—एक से अधिक अनेक। कोई कहे 'तुम्ह मैं अनेक गौएँ दूगा' तो वह 'दो' से अधिक के लिए बधेगा नही। तीन गौएँ भी उससे (वचन-बद्धता के बल पर) नही ली जा सकती। एक से अधिक दो के लिए वह बँध सकता है। 'अनेको म ओ' विकरण 'दो' को पार कर जाता है। 'मेरे बन्धु मित्र लोग, कुटुम्ब सभी की मत्यु' यो विराम चिह्न सुबोधता तो पदा करत ही हैं, रुक रुक कर कहने स वियोगातिशय भी ध्वनित हागा।

कुछ भी हो, भट्ट जी की भाषा प० प्रतापनारायण की भाषा से टक्कर लेती है, जरा भी कमजोर या ढीली-ढाली नही है।

युग सन्धि के लेखक

वस्तुत प० प्रतापनारायण मिश्र प० बालकृष्ण भट्ट और प० राधाचरण गास्वामी आदि ऐसे लेखक हैं जिन्ह युग-सधि मे समझना चाहिए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्वगवास हा जाने के बाद भी उन्नीसवी शताब्दी क अन्त तक समझा जाता है और इस समय तक मिश्र जी तथा भट्ट जी आदि बराबर लिखते रह। यही

१ भट्ट निबन्धावली, पृष्ठ १११

नहीं, द्विवेदी युग के प्रारम्भ में भी ये बराबर क्रियाशील रहे। स्वयं आचार्य द्विवेदी भी इसी युग सन्धि में अवतीर्ण हुए। उस समय द्विवेदी जी की भाषा भी कुछ वैसी ही थी। अपने अपने ढंग से सब लिखते थे। उस समय के सुप्रसिद्ध लेखकों में हैं —

प० अम्बिकादत्त व्यास

आप इनने 'उनने' प्रयोग करते थे।[1] जबकि दूसरे लोग 'इन्होंने' 'उन्होंने' लिखते थे। व्यास जी असाधारण विद्वान थे। संस्कृत के और हिन्दी के असाधारण भक्त। वे भाषा को एक रूप दे रहे थे। वे 'इन्होंने' 'उन्होंने' को कदाचित गलत समझते थे। बात यह हो सकती है कि उनका ध्यान 'इनसे' 'उनसे' प्रयोगों पर गया होगा और उन्होंने सोचा होगा कि या तो 'इन्होंसे' 'उन्होंसे' प्रयोग चाहिए या फिर (इनसे उनसे की तरह) 'इनने' 'उनने' होने चाहिए। 'तुमसे' 'हमसे' बहुवचनों की ही तरह 'तुमने' 'हमने' भी चलते हैं। कोई नहीं 'तुम्होंने' 'हमोंने' तो बोलता लिखता नहीं है। तब फिर 'इनसे' 'उनसे' की ही तरह 'इनने' 'उनने' क्यों न चलें? 'इन्ने' नहीं, 'उन्ने' न मानो इस तरह के प्रान्तिक प्रयोग भी हैं। तब कोई कारण नहीं कि केवल 'ने' विभक्ति आने पर अ। विकरण लाकर और बीच में 'ह' लगा कर 'इन्होंने' 'उन्होंने' प्रयोग किए जाएँ। 'इनसे' की ही तरह 'इनने' 'उनसे' की तरह 'उनने' प्रयोग होने चाहिए यह बात व्यास जी के मन में रही होगी।

एक भाषा विवेचक ने व्यास जी की भाषा में 'इनने' 'उनने' जैसे प्रयोगों की दिल्लगी उड़ाई है। मानो व्यास जी ने प्रमाद से ऐसे प्रयोग किए हैं। उस समय सभी हिन्दी-लेखक 'इन्होंने' 'उन्होंने' प्रयोग कर रहे थे। क्या व्यास जी ने वैसे प्रयोग देखे सुने न थे? व्यास जी भाषा लिखने में कैसी सावधानी रखते थे उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। वस्तुतः वे हिन्दी का परिष्कार कर रहे थे। यद्यपि 'इनने' 'उनने' का पक्ष समर्थन किसी लेख द्वारा नहीं किया, परन्तु उनके मन में निश्चय ही 'इनसे' 'उनसे' प्रयोग जोर मार रहे होंगे। परन्तु भाषा का एक प्रवाह होता है। जैसा भी जिस ओर चल पड़ा चल पड़ा। 'इनसे' की तरह 'इनने' क्यों नहीं चला, 'इन्होंने' कैसे चला क्या चला? इस पर कोई विचार नहीं। जो चल पड़ा वही ठीक। यों व्यास जी की पद्धति रह गई और आगे 'इन्होंने' जैसे प्रयोग ही रहे। इसका कारण उर्दू भी हो सकती है। वहाँ 'इन्होंने' 'उन्होंने' चल रहे थे। परन्तु स्पष्ट है कि पद शुद्धि की ओर विद्वानों का ध्यान गया था यद्यपि विवेचन न हुआ था। यदि कोई विवेचन भी करता और 'इनसे' 'उनसे' का समर्थन कर भी देता तो भी वैसे प्रयोग चलते नहीं। प्रवाह शुद्ध अशुद्ध का विचार नहीं करता। जो रूप भाषा का चल पड़ता है, व्याकरण

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य शैली का विकास पृ० ८०

उसी का अवास्थान भर कर देता है। व्याकरण भाषा को अपने रास्ते चला नहा सकता।

व्यास जी की भाषा—'अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए। देखिए उसम एक और कितनी बडी भूल है। प्रश्न यह है कि 'दूसरे के पूजन से दूसरे का सन्तोष कसे?

प्रश्नकर्ता का तात्पय एसा जान पडता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो, इससे वह क्या कर प्रसन्न हो सकता है? पर यह कसी भूल है। हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नही करते, किंतु पत्थर मिट्टी के आश्रय स उसी सच्चिदानन्द परम पुरुषोत्तम की पूजा करते है। मूर्ति पूजा से हमारा तात्पय है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन।[1]

माध्यम के अथ म प्रतिनिधि है—कर पढ़।

प० गोविन्दनारायण मिश्र

मिश्र जी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखते थे। हिन्दी के स्वरूप तथा परिष्कार पर भी अपने विचार प्रकट करते रहते थे। आचाय द्विवेदी न जब 'सरस्वती' के माध्यम से व्याकरण सम्मत भाषा लिखन लिखान पर (बीसवीं शताब्दी क प्रथम दशक म) जार दिया तो मिश्र जी ने उसका समथन किया था। मिश्र जी विभक्तिया का प्रकृति से सटा कर लिखने क समथक थे। नीचे हम उनकी भाषा का जो उद्धरण दे रहे हैं उसमे यदि विभक्तिया अलग भी छप जाएँ तो हम लोगो का प्रमाद समझ कर सही स्थिति समझ लेना चाहिए—विभक्तियो का सटा कर लिए प्रयोग समझें—

साहित्य का परम सुन्दर लेख लिखन वाला (भी) यदि व्याकरण म पूण अभिज्ञ न होगा, तो उसस व्याकरण की अनेका अशुद्धियाँ अवश्य होगी।'[2]

सारांश यह कि अनन्त सुविशाल शब्दारण्य के अनेको विभाग वतमान हैं। उसम एक विषय की योग्यता या पाण्डित्य क लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों म अभिज्ञ नही हो सकता है। परन्तु अभागी हिन्दी के भाग्य मे इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है।'[3]

स्पष्ट ही मिश्र जी चाहते थे कि हिन्दी का एक रूप निश्चित हो। उनकी यह इच्छा आगे पूरी भी हुई। हिन्दी के रूप पर विचार विमश चला और बहुत कुछ सुधार भी हुआ। इस विचार विमश म मिश्र जी ने भी सहयोग दिया था।

---

१ डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य शली का विकास, पृ० ८३,
२ वही पृष्ठ ६५
३ वही, पृष्ठ ६५

विभक्तियाँ सटा कर लिखो, चाहे हटा कर, प्रयोग में कोई दिक्कत नहीं पड़ती। अब भी कोई-कोई विभक्ति सटा कर छापना-छपाना है। परन्तु 'उस (बूढ़े खूसट) ने क्या समझ कर इस उम्र में विवाह का स्वांग रचा'[१] यहाँ 'ने' विभक्ति सटा कर कैसे लिखी जाएगी? 'अभी से' 'तभी न' 'इसी में' 'उसी से' आदि प्रयोग क्या कहेंगे? सर्वत्र प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में 'ही' अव्यय आ जाता है। 'अब [redacted] ही' भी चलता है पर 'अभी से' भी टकसाली प्रयोग है। 'तू न तज अब ही तें' आदि हिन्दी सब की अवधी आदि भाषाओं में भी 'अब' और 'तें' के बीच में 'ही' है। संस्कृत में विभक्ति का सटा कर ही प्रयोग होता है।

'सर्वस्व' को कभी भी 'सर्व स्व' न लिखा जाएगा। 'एव' अव्यय इसी लिए कभी भी बीच में न आएगा—'सर्वस्व एव' प्रयोग होते हैं सन्धि करके 'सर्वस्वमेव' तस्यैव। एवम्य कभी हो नहीं सकता हुआ ही नहीं है। सन्धि करके 'सर्वस्व' हो जायगा और मतलब निकलेगा तव का उसी का तस्यैव १/२ सो, हिन्दी की प्रकृति भिन्न है। संस्कृत के सब नियम यहाँ चल नहीं सकते। फिर भी यदि कोई विभक्ति सटा कर लिखना चाहे तो लिखे। व्याकरण उसे रोकेगा नहीं। सटाऊ प्रयोग से यहाँ अड़चन पड़ेगी—'एक एम० ए० से भी क्या होगा, यदि बुद्धि साथ न दे। 'एम० ए०' के साथ 'से' को सटा कर कैसे लिखा जाएगा? महामहोपाध्याय का संक्षिप्त रूप म० म०' है। म० म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी काशी गए। एक दूसरे म०म० ने भी काशी को प्रस्थान किया। यहाँ म० म०' से 'ने' को कैसे सटाया जाएगा? हिन्दी की 'ने' से राजस्थानी की 'ने' का कोई सम्बन्ध नहीं।[२] 'न' 'स' और 'ने' का कैसे सटा कर लिखे जाएंगे? किसी तरह काम चलाया जा सके तो ठीक। सटा कर ही सही।

खैर, यह एक चर्चा हुई। सार यह कि मिश्र जी जैसे विज्ञ लेखक हिन्दी के रूप पर विचार करने लगे थे। इसी समय द्विवेदी जी ने लाला सीताराम बी० ए० की हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की आलोचना की—भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ विस्तार से बताई।

शताब्दी समाप्त होने से पहले ही यह सब विचार विमर्श शुरू हो गया था। आगे काशी नागरी प्रचारिणी सभा भी मैदान में आई और भारतेन्दु के 'कफन' आदि प्रयोगों को गलत समझ कर सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि नीचे बिन्दी लगा कर कफ़न जैसे रूप लिखने चाहिए। सभा के इस निर्णय का विरोध बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया था जो आगे स्पष्ट होगा।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिन्दी में आए थे। सन् १८८८ तक वे उर्दू

---

१ आचार्य किशोरी दास वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ १४०
२ आचार्य किशोरी दास वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० १३६

के धुरन्धर लेखकों की श्रेणी में ना पहुंचे थे। लाहौर के उर्दू 'कोहेनूर' पत्र के प्रधान सम्पादक थे। हिंदी की ओर झुकाव था ही। महर्षि प० मदन मोहन मालवीय उन्हें हिंदी में ले आए। उस समय कालाकांकर (अवध) के राजा साहब श्रीमान रामपाल सिंह जी हिन्दी का प्रबल समर्थन कर रहे थे और हिंदी का दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' चला रहे थे, जिसके प्रधान सम्पादक मालवीय जी थे। मालवीय जी कानपुर से प० प्रतापनारायण मिश्र को तथा लाहौर से बालमुकुंद गुप्त को भी खींच लाए। सन् १८८९ में वे 'हिंदोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में पहुंचे और प० प्रतापनारायण मिश्र के संसर्ग से बहुत जल्दी बढ़िया हिंदी लिखने लगे। पहले उन्होंने मालवीय जी से कह दिया था कि हिन्दी मुझे आती नहीं है, परन्तु मालवीय जी जानते ही थे कि उर्दू वाला बहुत जल्दी हिन्दी को पहचान सकता है। सन् १८८८ तक गुप्त जी की हिंदी कैसी थी यह उनके एक कार्ड से समझिए जो प० श्रीधर पाठक को उन्होंने लिखा था—

ॐ

लाहौर
११ ९ ८८

श्री महाराज प्रणाम

कल्ह कृपा कार्ड और राजा शिवप्रसाद की गुटका पोहची और थोडी देर पीछे दूसरी डाक में दुर्गानन्दनी पाहची आप का कोटानकोट धन्यवाद है गुटका आपने बिना मूल्य भिजवाई है उसको मैं आपकी कृपा का बोहत बडा चिन्ह समझ कर बिना मूल्य ही स्वीकार करता हूँ मुझे आप को शरीर की पीडा से बडा खेद है मेरी भी यही अवस्था रही है मुझे आशा है कि मुझ सेवक पर इसी तरह आप की दया रहैगी[1]

आज्ञाकारी बालमुकुन्द गुप्त

कार्ड के प्रारम्भ से अन्त तक कहीं विराम चिन्ह नहीं है—अन्त में भी नहीं है। परन्तु 'हिंदोस्थान' में जाते ही गुप्त जी की भाषा मँजने लगी और आगे चलते चलते एक अच्छे हिंदी लेखक हो गए। गुप्त जी फिर कलकत्ते के 'हिन्दी बंगवासी' में चले गए थे और कुछ दिन बाद वहीं के 'भारत मित्र' में चले गए। 'भारत मित्र' के वे प्रधान सम्पादक हुए और तभी अपने निखरे हुए रूप में प्रकट हुए।

उस समय प० महावीर प्रसाद द्विवेदी झाँसी में ही थे और रेलवे तार विभाग में काम करते थे। बचे हुए समय में साहित्य-सेवा करते थे। द्विवेदी जी के लेख 'हिंदोस्थान' में तथा 'भारतमित्र' में छपा करते थे। द्विवेदी जी ने भाषा-परिष्कार का काम पूरा तो तब किया जब तार विभाग से 'सरस्वती' की सेवा में आ गए। परन्तु

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ पृ० ३६ ३७
—सम्पादक श्री झाबरमल्ल शर्मा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

इस का प्रारंभ पहले ही हो गया था। लाला सीताराम बी० ए० ने शिक्षा विभाग के लिए जो पाठय पुस्तकें लिखी थी, उन की भाषा सम्बन्धी आलोचना विस्तार से द्विवेदी जी ने ऐसी की जिससे हिन्दी जगत का ध्यान उधर खिंच गया और उन्हें 'सरस्वती' सेवा के लिए आमंत्रित किया गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे साफ प्रकट होता है कि हिन्दी का विचार युग प्रकट हो रहा था यानी सन १८६० से १६०० तक का समय द्विवेदी युग का या भाषा-परिष्कार युग का उषा काल है। इनन—उनने' आदि प्रयोग भी विचार की ही सूचना देते हैं और प० श्रीधर पाठक के इस्के 'उस्के' आदि प्रयोग भी विचार मथन की सूचना देते हैं। यह और बात है कि हिन्दी ने न इनने आदि पद स्वीकार किए, न इस्के आदि ही। प० श्रीधर पाठक ने इस्के आदि चलाने चाहे थे। आगे उनका उल्लेख होगा।

यहा बाबू बालमुकुन्द गुप्त की चर्चा थी। बतलाया गया कि सन १८८८ ८६ में उनकी हिन्दी कैसी थी। परन्तु दो तीन बरसो में ही वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखने लगे थे और सन १६०० के आते आते वे हिन्दी के रूप पर विचार भी करने लगे थे।

सन १६०० में ही सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन समर्थन से यह पत्रिका निकली थी। सभा हिन्दी के रूप पर भी विचार करने लगी थी और लेखकों के लिए नियम बनाने लगी थी। उसी के एक नियम की आलोचना गुप्त जी ने की थी। नीचे गुप्त जी का वह लेख दिया जा रहा है जो उन्होंने ता० १६ फरवरी (सन १६००) के भारतमित्र में निकाला था। शीर्षक था हिन्दी में बिन्दी—

हिन्दी मे बिन्दी

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा हिन्दी में बिन्दी लगाना चाहती है। वह बिन्दी अक्षर के ऊपर नही नीचे हुआ करेगी। ऐसी बिन्दी लगाने का मतलब यह है कि उनसे उर्दू शब्द हिन्दी में शुद्ध लिखे जाये।

'हिन्दी में बिन्दी लगाना चाहती है मतलब हिन्दी में विदेशी (फारसी आदि के) शब्दों के नीचे बिन्दी लगाने का चलन चाहती है। अपने शब्दों में नीचे जो बिन्दी 'लड़ना पड़ना' आदि में लगती है उसकी चर्चा यहाँ नहीं है। हुआ करेगी, लगा करेगी।

उर्दू शब्द का मतलब है—फारसी आदि के शब्द जो हिन्दी में (उर्दू होकर) आ गए हैं और यहाँ प्रचलित हैं, 'बाजार' आदि।

"हिंदी में खाली 'ज' होता है और उर्दू में 'जीम' 'जाल' 'जे' बड़ी जे' 'ज्वाद' और 'जोय'। 'जीम' के सिवा इन सब उर्दू अक्षरों का उच्चारण 'जे' के तुल्य होता है। 'जे' का उच्चारण जिह्वा के ऊपर के दाँतों के साथ मिलने में होता है।"[1]

जिह्वा को ऊपर के दाँतों से मिला कर 'जे' का उच्चारण होता है। यानी 'जीम' का उच्चारण हमारे 'ज' की तरह और उर्दू में 'जाल' आदि का उच्चारण 'जे' की तरह। निश्चय ही फारसी भाषी लोग 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' आदि का उच्चारण भिन्न भिन्न करते होंगे अन्यथा केवल 'जे' से ही काम चल जाता। मतलब यह है कि उर्दू में 'जमुना जब लहरें लेती हैं' (फारसी लिपि) में लिखा जाएगा तो जमुना तथा 'जब' लिखने में 'जीम' का उपयोग होगा अन्यत्र 'जाल' आदि का।

नागरी प्रचारिणी वाले चाहते हैं कि हिंदी (नागरी) के 'ज' के नीचे एक बिन्दी लगा कर उर्दू की 'जे' का उच्चारण करें।"

उर्दू की 'जे' का और उर्दू के 'जे' का दोना चलते हैं। अक्षर ध्यान में है, तब उर्दू के 'जे' का और लिपि विन्यास ध्यान में है तब उर्दू की 'जे' का। हिंदी में 'बहिनी' का 'बहन'। 'इ' उड़ गई और अन्त्य 'ई' भी। दोनों जगह 'अ' लगा। 'इ' और 'ई' का स्त्रीवर्गीय प्रयोग और 'अ' का पुंवर्गीय। यह लिपि सकेत को ध्यान में रख कर नहीं उस के उच्चारण को ध्यान में रख कर। हिंदी में 'राम' 'जल' 'पहाड़' आदि अकारान्त शब्द पुंवर्ग में हैं और बुद्धि 'गति' 'नदी', 'लड़की', 'मकड़ी' आदि स्त्रीवर्ग में। इसीलिए अ आ लगा और 'इ' उड़ गई।

परन्तु 'ईकार' कहा गया में पुंवर्गीयता है। 'इकार' पुंवर्ग जैसे 'सलाहकार' आदि। कभी-कभी 'इ' उड़ गया' भी बोलते हैं 'अक्षर' का अध्यवसान करके, जैसे 'मथुरा निकल गया, तुम सोते ही रहे'। 'स्टेशन' या 'शहर' का खयाल करके 'निकल गया।' परन्तु 'काशी देखी' 'काबा देखा', 'देखी मथुरा पुरी', में शहर का अध्यवसान नहीं है इसलिए स्त्रीवर्गीय प्रयोग। इसी तरह उर्दू की 'जे' का उच्चारण करें।

हिंदी में ऐसा उच्चारण नहीं है क्योंकि वास्तव में 'जे' 'जीम' का ही विकार है। वह फारसी वालों के कंठ की खराबी के सिवा और कुछ नहीं है। उस खराबी को नागरी प्रचारिणी हिंदी में भी घुसाना चाहती है। परंतु इस घुसाने से क्या लाभ है इसका पता ठीक नहीं लगता।

जे, जाल की खराबी उर्दू में यहाँ तक है कि बहुत लोग वर्षों की शिक्षा पाने तथा लुगातों (कोशों) को कीड़ों की तरह चाट जाने पर भी 'ज' 'जाल' का भेद ठीक-

---

१ भारतमित्र १९ फरवरी सन् १९००

ठीक नहीं जान पाते। कितनी ही बार वह इस झगड़े में पड़ते हैं कि अमुक शब्द 'जाल' से है या 'जे़ल' से है। जब स्वयं उर्दू जानने वालों की यह लाचारी है तो नागरी प्रचारिणी सभा हिन्दी को पराये काँटों में क्यों घसीटना चाहती है? लज्जत 'जाल' से होती है, लाजिम 'ज' से जरूर 'ज्वाद' से जाहिर ज्वाद से और जाहिर जोय से। नागरी प्रचारिणी सभा के हल से एक बिन्दी (ज के नीचे) लगाने से (ही) सब का उच्चारण शुद्ध हो गया। परन्तु इसमें जाल ज्वाद और 'जोय' की क्या पहचान रही? यदि जाल' ज्वाद जोय का फर्क रखना मंजूर नहीं है तो बिन्दी लगाने की जरूरत नहीं और यदि उन सब में भेद समझा जाता है, तो फिर जाल' 'ज्वाद' 'जोय' की (भी) कुछ पहचान रखनी चाहिए।

नागरी प्रचारिणी सभा वालों से हमारा यह प्रश्न है कि इस बिन्दी से उर्दू न जानने वालों का क्या उपकार होता है? वह कैसे जानेंगे कि शब्द के नीचे बिन्दी लगाना चाहिये? क्या आप बिन्दी लगा-लगा कर उर्दू शब्दों का उनके लिए कोश तयार कर देंगे? और हिन्दी वाले उस मियाँ मिट्ठू की तरह दिन रात रटा करेंगे? यदि ऐसा होगा, तब तो आप लोगों की हिन्दी खुदा के फजल से उर्दू से भी (अधिक) सरल हो जायगी और तीन महीने की जगह तीन तीये नौ वर्ष (वर्षों) में सीखी जायगी। और यदि उर्दू न जानने वालों को बिन्दी (ठीक-ठीक लगानी) न आवेगी तो आप लोगों की हिन्दी में लबड़धोधा मच जायगी। कोई बिन्दी लगावेगा, कोई नहीं लगावेगा।

बिन्दी की बीमारी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के जन्म के (से) पहले भी लोगों में हो चुकी है। वृन्दाबन निवासी पंडित राधाचरण जी गोस्वामी ने नागरीदास जी कृत इश्क चमन छापा था। उसमें उन्होंने उर्दू (फारसी आदि के) शब्दों में खूब बिन्दी की भरमार की थी। यहाँ तक कि जिन शब्दों के नीचे बिन्दी नहीं लगानी चाहिए (थी) उनके नीचे भी उन्होंने बिन्दी लगा दी थी। स्वर्गवासी पं० प्रतापनारायण मिश्र उसे पढ़ते पढ़ते लोट पोट हो गये थे और कहा था कि यह बिन्दी की बीमारी हिन्दी वालों को अच्छी लगी। यह उनको दूर तक खराब करेगी।"[1]

सचमुच इस बीमारी ने हिन्दी वालों को दूर तक खराब किया और ऐसी लबड़धोधा मची कि कनौज भी कन्नौज बन गया मुरादनगर बन गया 'मुराद नगर और संस्कृत का कफ बन गया कफ़। गुप्त जी की चेतावनी अनसुनी कर देने का फल बुरा निकला। आगे चल कर उसका सुधार हुआ जिसका उल्लेख इसी ग्रन्थ में अन्यत्र है। लिखा है—

'नागरी प्रचारिणी सभा के मेंबरों में एक बहुत बड़े आदमी हैं जो अंग्रेजी

---

१ हिन्दी में बिन्दी—भारतमित्र १९ फरवरी सन १९००

हिंदी के पण्डित हैं। वह 'वकील' शब्द म बडा 'काफ बालते थे। वह यह समझते थे कि बडा 'काफ' बोलन से ही उदू हो जाती है। हमने उन का समझाया कि साहब, वकील छोटे काफ' से ही है बडे काफ से नही।"

यानी वकील' का वकील' समझ रखा था।

'सरस्वती पत्रिका के दखन मे ही हम नागरी प्रचारिणी वाला की विंदी का खयाल आया है। उक्त पत्रिका मे लेखका के लिए जा नियम लिखे गए हैं उनके पाचवे नियम म लिखा है"—"लेख लिखन म उ हो नियमा का पालन हो जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा न सव सम्मति से निश्चय किया है। इसम ऊपर नियमा है और नीचे 'क्या है' है।"

गुप्त जी न ठीक कहा है 'किये है चाहिए किया है की जगह। आचाय द्विवेदी सन १९०३ मे 'सरस्वती के सम्पादक हुए। यह बात १९०० की है। इसी वष 'सरस्वती निकली थी और उस समय उसके पाच सम्पादक थे, जिन म बाबू श्याम सुदर दास प्रमुख थे। बाबू साहब काशी नागरी प्रचारिणी सभा म भी प्रमुख थे। परन्तु उस समय तक एकवचन-बहुवचन म ऐसी गडबडी होती ही रहती थी। उन की ओर कोई वैसा ध्यान ही न देता था। तो भी 'सभा' को उधर ध्यान देना ही चाहिए था। जब बाजार को 'बाज़ार' रूप देने का नियम बनाना उसन जरूरी समझा तो एकवचन-बहुवचन पर भी ध्यान रखना था।

फिर गुप्त जी लिखते है—

'यदि इसी नियम पर हिंदी वाले चल पडें तो बीच ही मे बेडा पार हो जावेगा। इसी स हम सावधान करना पडा है कि लेखक लाग आख खोल कर चलें, नागरी प्रचारिणी की लकडी पकड कर ही न चलें।'

गुप्त जी भी विभक्तिया सटा कर लिखने के पक्षपाती थे। इसीलिए बीच ही मे' जसे प्रयोग हैं। यह क्या हुआ ? प्रकृति है 'बीच और उसकी प्रत्यय है म। मिला कर लिखना चाहिए था—बीच म ही। परन्तु 'ही मे इतना जोर है कि वह प्रत्यय से भी पहले आ जमता है। तब वह नियम कहाँ रहा कि प्रकृति स सटा कर विभक्ति लिखनी चाहिए ?

आंख खोल कर चलें की जगह 'आखें खोल कर चलें क्या नही ? आँखें दो हैं न ! क्या आँखें बन्द करके चल रहा था कि गड्ढे म गिर पडा ? यदि कोई काना हो तब आंख बन्द कर प्रयोग कोई कर भी सकता है। उस समय एक वचन बहुवचन का विचार होने तो लगा था परन्तु पुरानी प्रवत्ति का क्या किया जाए।

जावेगा आदि प्रयोग चलते ही थे कहीं जायगा भी। गुप्त जी ने भी दोना तरह क प्रयोग किए हैं। होवेगा भी चलता था। जावेगा आदि आज भी चलत हैं। यद्यपि अब पूरी तरह निणय हो चुका है कि जावेगा जायगा' आदि गलत प्रयाग

है, जाएगा खाएगा आदि शुद्ध हैं। उस समय ऐसा कोई विचार न हुआ था और सन् १६२१ में प्रकाशित गुरुजी के हिन्दी व्याकरण में भी जाएगा, जावेगा, जायगा और जाएगा को बर्ती पर प्रयोग मात कर (मजरा) शुद्ध बतलाया गया है। यह सब चीजें यथास्थान में स्पष्ट होगा।

सरस्वती पत्रिका में मोयन' शब्द भिन्न कर लिख दिया गया है। हिन्दी का भी मान निश्चित किया है पर नु शब्द के रूप उच्चारण का कुछ भी विचार नहीं किया कि शब्द मुसल है। मानस नहीं है। ... का कल्पना नहीं करने उस स्त्रीलिंग लिखा है। नागरी प्रचारिणी के नियम पर चलन से पुल्लिंग रीत' को स्त्रीलिंग लिखना पड़ता। बाजार शब्द का उच्चारण नागरी प्रचारिणी का उचार में इससे उतर नीच हिन्दी सुन्दर दी है। परन्तु 'तारीखवार' ऐसा सरस्वती में लोकर पन्न पर दो जगह आया है। वह दोनों जगह हिन्दी शुद्ध है। यह चार विन्दी हमारी नागरी प्रचारिणी सभा के साथ हुई।

गुप्त जी 'यह वह' बहुवचन में भी लिखते थे। जब आचार्य द्विवेदी ने बहुवचन में ये वे रूपों का समर्थन किया तो गुप्त जी ने उनकी बड़ी खिल्ली उड़ाई थी— ये 'ये' का यथार्थ प्रयोग मनमाना था। परन्तु हिन्दी ने आज 'यह' 'वह' बहुवचन में स्वीकार नहीं किए। गुप्त जी में यह प्रवृत्ति उर्दू से आई थी। जहाँ यह सूरतें उस प्रयोग गृहीत हैं।

सरस्वती में एक जगह घरत शाही का नाम आया है। 'गन' में जो 'ग' है उसके नीचे बिन्दी है परन्तु 'शाही' में और जो 'ऐन' है उसके सेतर ने गन कर दिया है। यह अरबी भाषा का शब्द है— 'गन'। जब शुद्ध उच्चारण न ना है तो इन नेरा जी विचारे की मिट्टी खराब क्या की?

बीच में जो 'ऐन' है उसे सेतर ने 'गन' कर दिया है यहाँ उसका' की जगह उसे चाहिए। कम कारक में हिन्दी उसे रखती है उसका नहीं। जो बात तुमने कही उसे मैं सुन न सका। यहाँ उसका सुन न सका न होगा। मैंने लिखा था वीर नारी जिसे छाप दिया गया वारनारी। यहाँ जिस की जगह जिसका न होगा। हाँ वीरनारी का 'वारनारी' रूप बन जाना भूतों की करामात है। यहाँ का ठीक है। ऐसी बातों की ओर इस समय भी लोग कम ध्यान देते हैं।

उसी लेख को आगे देखिए—

उर्दू में ते होती है तोय होती है। दोनों के उच्चारण में नागरी प्रचारिणी ने क्या भेद रखा है सो हम मालूम नहीं। से सीन' स्वाद' इन तीन अक्षरों का एक ही सा होता है। इस में आप लोग क्या भेद रखना चाहते हैं? 'अलिफ और ऐन' का भी कुछ भेद नहीं मालूम पड़ा। इसी प्रकार की घसीटन में हिन्दी को

क्या फँसाया जाता है। इस बात का उत्तर नागरी प्रचारिणी वालों को देना चाहिए।"

इस लेख से स्पष्ट है कि गुप्त जी हिंदी की प्रकृति पहचानते थे और उस में विकृति पैदा करने वालों की पूरी खबर लेते थे। हिन्दी वालों में वैसे उच्चारण हैं ही नहीं, जिन के लिए नीचे बिंदी लगा कर क ख 'ज' फ जैसे नए रूप लोग चलाना चाहते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक जरूरी जैसे प्रयोग करते थे। 'सभा' ने जरूरी लिखना जरूरी समझा। सभा का दबदबा था। उस का गलत सिक्का चल पड़ा, जो आगे सन १९४० के इधर उधर रद्द कर दिया गया।

गुप्त जी की भाषा

ऊपर के लेख में गुप्त जी की भाषा देखी। बढ़िया टकसाली भाषा है। परन्तु जैसे संस्कृत भाषा के केन्द्र काशी में हिन्दी वाले फारसी आदि के 'शुद्ध' रूप हिन्दी में चलाने का प्रयत्न कर रहे थे उसी तरह कलकत्ते के हिन्दी लेखक संस्कृत व्याकरण के नियम हिन्दी में चला कर इसे 'शुद्ध भाषा' बनाना चाहते थे। गुप्त जी भी उन्हीं लोगों में थे। विभक्ति को प्रकृति से सटा कर लिखना वहीं से चला यद्यपि आगे हिन्दी में वह प्रवृत्ति बढ़ी नहीं। अड़चनें सामने आईं।

इसके अतिरिक्त ष्टाफ ष्टेशन कड्डूड झञ्झट आदि भी वहीं चलते थे। अन्यत्र स्टाफ 'स्टेशन' 'कण्ड' झंझट जैसे रूप चलते थे। यह सब संस्कृत भाषा के नियमों का ध्यान करके। परन्तु हिन्दी में निखार हुआ कलकत्ते में भी आगे 'स्टाफ स्टेशन' आदि रूप चले। परन्तु गुप्त जी के 'भारतमित्र' में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक 'ष्टाफ' जैसे रूप चलते रहे। उसी समय इधर 'सरस्वती' आदि में 'स्टाफ' 'स्टेशन' आदि रूप छपते थे। अब कहीं कोई 'ष्टाफ' आदि नहीं लिखता है। 'सभा' की वह (नीचे वाली) बिंदी अब भी कहीं देखने को मिल जाती है। पर कलकतिया 'ष्टाफ आदि शब्द रूप एकदम अदृश्य हैं। परन्तु 'कड्डूड' आदि अब भी काशी में आज में देख सकते हैं। संस्कृत तत्सम 'कङ्कड' तो ठीक, परन्तु हिन्दी के अपने शब्दों में 'पर-सवर्ण' की प्रवृत्ति क्या? हिन्दी के अपने गठन में ङ ञ ण न हैं ही नहीं। इसलिए कण्ड डंडा कञ्जड जैसे प्रयोग ही ठीक। संस्कृत तत्सम शब्दों में वैकल्पिक पर सवर्ण हो सकता है—कङ्कण-कंकण अण्डज-अंडज चञ्चु-चंचु आदि। परन्तु अंग्रेजी फारसी आदि में 'ण' 'ड' 'ञ' नहीं है। इसलिए उन भाषाओं के शब्द सुपरिण्टेण्डेण्ट 'जञ्जीर' आदि लिखना हिन्दी को विकृत करना है। काशी के 'आज' में यह प्रवृत्ति कलकत्ते से ही आई। इसके आद्य सम्पादक श्रद्धेय प० बाबूराव विष्णु पराड़कर का जन्म संस्कृत केन्द्र काशी में हुआ था। महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में संस्कृत भाषा के प्रति निष्ठा प्रसिद्ध ही है। फिर पराड़कर जी कलकत्ते

मित्र के सम्पादक मण्डल में बहुत दिन रहे। वहाँ से जब काशी वापस आकर 'आज' के प्रधान सम्पादक हुए तो संस्कृत शब्दों पर सवर्ण की प्रवृत्ति साथ लाए। उनकी दी हुई यह चीज 'आज' ने अब तक हटाई नहीं है।

दूसरा ओर काशी नागरी प्रचारिणी सभा है जो सवर्ण अनुस्वार से काम लेती है। दन्त का भी दंत वहाँ छपता है। आचार्य वाजपेयी का हिन्दी शब्दानुशासन छपने लगा तो सभा ने 'हिंदी शब्दानुशासन' रूप छापना चाहा। आचार्य वाजपेयी ने कहा कि न और म हिन्दी में गृहीत हैं इसलिए हिन्दी रूप उस रूप छापने चाहिए।

वाजपेयी जी ने कहा—मेरी पुस्तक में सभा की चाँदी न चलेगी जिसमें हिन्दी को भी हिंदी बना दिया जाता है। बड़ा झगड़ा हुआ और फिर 'हिन्दी शब्दानुशासन' वाजपेयी जी की वर्तनी में छपा परन्तु वहाँ अन्य सब प्रकाशनों में 'हिंदी' चलती है हिन्दी कतई नहीं। संस्कृत तत्सम शब्द भी अनुस्वार से ही चलते हैं। वहाँ पञ्चपात्र कभी भी नहीं छपता। परन्तु पाञ्चजन्य को क्या करेंगे? पांचजन्य या पाँचजन्य छापेंगे? विचित्र बात है। यह सब छठे अध्याय का विषय है। यहाँ प्रसंग प्राप्त चर्चा हुई।

गुप्त जी कालाकांकर के 'हिन्दोस्थान' की चर्चा करते हुए 'भारतमित्र' में लिखते हैं—

"पहली नवंबर सन् १८८५ से उक्त पत्र कालाकांकर से हिन्दी में दैनिक निकलने लगा? हिन्दोस्थान के स्टाफ में उस समय अच्छे अच्छे लोग एकत्र हो गये थे।"[१]

इसी लेख में इंगलैण्ड आदि हैं। एकत्र हो गए थे में यही संस्कृत निष्ठा है। संस्कृत में एकत्रित नहीं होता, इसलिए हिन्दी में भी गलत। आज भी ऐसे लोग हैं। इन का उल्लेख छठे अध्याय में होगा। ऐसे लोगों ने हिन्दी 'मुअवसर' की जगह संस्कृत नियमानुसार स्ववसर नहीं चलाया यही बड़ी बात।

हिन्दी में हित अनहित पशु पछि जाना जैसे टकसाली प्रयोग हैं। संस्कृत व्याकरण से अनहित गलत है। वहाँ अहित शुद्ध है। परन्तु तुलसीदास उतनी संस्कृत जानते हुए भी अनहित को छोड़ न सके। गुप्त जी ने और उनके साथियों ने आचार्य द्विवेदी के अनस्थिर प्रयोग पर बहुत निचले स्तर पर वाद विवाद चलाया था और खूब मजाक उड़ाया था।[२]

परन्तु तुलसीदास जी ने द्विवेदी जी का साथ कभी नहीं छोड़ा। हिन्दी तो फारसी आदि शब्दों से भी अपने शब्दों का मेल करा देती है। हरजाई का प्रयोग

१ गुप्त निबन्धावली हिन्दी अखबार पृ० ३४३—भारत मित्र १९०६ ई०
२ बालमुकुन्द गुप्त—भाषा की अनस्थिरता पृ० ४३३—भारतमित्र सन १९०६

'पुंश्चली' के अर्थ में होता है। हर एक की जाया जो बन जाए वह 'हरजाई'। 'जाया' का 'जाई' रूप, जैसे 'मातजाया' का 'मौजाई'।

सो संस्कृत का 'एकत्र' और संस्कृत का ही 'इत' प्रत्यय लेकर 'अपनी' चीज— 'एकत्रित' विशेषण। 'एकत्र' का प्रयोग विशेषण के रूप में गलत है। वह अधिकतर स्थायक अव्यय है। संस्कृत में भी कहीं—कभी 'एकत्र' शब्द विशेषण के रूप में नहीं देखा गया है। वहां 'इकट्ठा' के अर्थ में 'समवेत' आदि विशेषण चलते हैं— एकत्र समवेता पुरुषा कौतुकमपश्यन[1] एक जगह इकट्ठे पुरुष तमाशा देख रहे थे। हां, 'तत्र' जैसे अव्ययों से तद्धितीय प्रत्यय करके 'तत्रत्य' जैसे विशेषण बनते हैं—तत्रत्या छात्रा समागता —वहां के छात्र आए हैं। इसी तरह अन्य अनेक अव्ययों से विशेषण बनते हैं पर 'तत्र' 'अत्र' 'एकत्र' जैसे अव्यय ही विशेषण रूप में नहीं चलते। जब संस्कृत में ही 'एकत्र' विशेषण नहीं तब हिंदी में ही कैसे हो जाएगा ? परन्तु यह धड़ाधड़ यहाँ अब तक चल रही है। आज भी लोग धड़ल्ले से 'वहां एकत्र भीड़ पर पुलिस ने गोली चला दी' जैसे प्रयोग कर रहे हैं। 'वहां इकट्ठी भीड़ पर' नहीं लिखते, क्योंकि संस्कृतपना दिखानी है, जैसे फारसी भाड़न के लिए 'मोगल' लिख देते हैं।

गुप्त जी प० प्रतापनारायण मिश्र को अपना हिंदी गुरु मानते थे और मिश्र जी उन्हें अपना मित्र। मिश्र जी का कैसा प्रेम गुप्त जी को प्राप्त था नीचे के दो पत्रों में देखिए। इन पत्रों में यह भी स्पष्ट होगा कि मिश्र जी मौज में कैसी भाषा लिखा करते थे। नीचे का पत्र तारीख आदि डाले बिना ही मिश्र जी ने गुप्त जी को भेजा था। कानपुर डाकखाने की प्रस्थान मुद्रा इस पर ४ जनवरी सन १८६२ है। इस समय गुप्त जी हिंदोस्थान से हट कर अपने गांव 'गुड़ियानी (हिसार पंजाब) चले गए थे। पत्र यहां गया जो यों है—

प्रियवरेषु

शुभमस्तु—सब आनन्द है—नित्योत्सव हि य तेषां नित्यं श्री नित्यं मंगलं। यषां हृदिस्थो भगवान मंगलायतनो हरिः। ब्राह्मण स्वर्ग तो नहीं गया पर बांकीपुर खड्गविलास प्रेस चला गया यह उसका सौभाग्य है। एडिटर हमीं हैं। पर और सब झंझट से पाक। खड्गविलास प्रेस वाले बड़ी भारी दया अत्यन्त प्रेम करते हैं। राहु जी पाजी हैं यह रुपया बीसियों का गपक बैठे हैं नालिश कर दी न। गवाही हम भी दे देंगे। नगरी मित्रों का हाल वही अतवारे सदरगी जो आगे थे सो अब भी है। आप के भी तावेदार हैं आमार नामई प्रेमदास जो दी आपनार मोने प्रेम तबे अभी आपनार श्रीतदास मेला कानपुर में और जा २ कहां होता है, अस्मादेव कारणात कांग्रेस विषयेपि तदेव टाय

१ आचार्य वाजपेयी—हिंदी शब्द मीमांसा पृ० ४३

टाइम फिर। अवकाश दिन रात है, गुजारे का बन्दोबस्त पिता जी पुण्य हो कर गये हैं ऊपर से दो घंटे मात्र मिहनत पर एक अंग्रेज बहादुर पन्द्रह रुपया महीना भी देते हैं—निदान सब मजा है केवल शरीर गड़बड़ रहता है सो उसका नाम ही शरीर (फारसी भाषा) है किन्तु डाक्टर भोलानाथ की अ हा उनकी दया ॥ उसकी भी शरारत दबी रहती है। अपनी कथा तो कहिए ! दुकान पर प्राप्ति का क्या हाल है ? शरीर घर धरनी भ्राता पुत्रादि सब प्रसन्न है ? मित्र मंडल की क्या राह है ? हम तो ब्राह्मण सम्पादन वग भाषा पुस्तकानुवाद तथा कविता की मौज में रहते हैं यदि दुनियां के झमेला न सताया इकतारा ले बैठे उसमें भी जी न लगा तो एक मद्दराख भी है बस ! इधर कई किताबों का अनुवाद भी कर डाला है, छप रही हैं देवी चौधरानी का अनुवाद इन दिनों कर रहा हूं। अच्छा नावल है। अयोध्यार बंगम का पता बताओ तो उसे भी मंगा कर करी डालें, महात्मा सपतराम कहां हैं ? कैसे हैं ? क्या करते हैं ? अब जो जवाबी पोस्ट कार्ड आया तो जवाब 'नहराह् राज' जब जवाब में इधर से देर हो तो कारण केवल आलस्य अथवा जगज्जाल समझिएगा और बस फिर कभी।

भवदीय प्रताप मिश्रा कानपुरी

बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ के सम्पादक ने लिखा है— यह एक कार्ड का मजमून है जिसका आकार वर्तमान कार्ड से छोटा है और एक तरफ ही लिखा गया है।"[1]

इबारत ज्यों की त्यों दी है। विराम चिन्ह कहीं है, कहीं दूर तक पता नहीं। प्रारम्भ का संस्कृत श्लोक ज्यों का त्यों दिया है। इस से स्पष्ट है कि मिश्र जी संस्कृत काम चलाऊ ही जानते थे। मिश्र जी पर-सवर्ण की जगह अनुस्वार ही देते थे। गुप्त जी भी ऐसा ही करते थे।

फिर कलकत्ते जाकर वे 'तंग आ गया' को भी 'तङ्ग आ गया' लिखने लगे थे जो 'हिन्दी बंगवासी' का प्रभाव समझिए। उसके प्रधान सम्पादक प० अमृतलाल चक्रवर्ती को पर सवर्ण ही पसन्द था।

एक और कार्ड—[2]

प्रियवरेषु

बहुत अच्छा हुजूर बांट दूंगा और लेख भी इंशा अल्लाह तआला दिया करूंगा आप ब्राह्मण को सहायता दीजिए तो—जिहे किस्मत जिहे शाला जिहे वक्त—आप के कई पत्र आए पर उत्तर नहीं दे सका क्षमा मांगते भी लाज लगती है पर 'जोपै जिय गनिहौ औगुन जन को तौ क्यों कटै सुकृत नख ते मो पै विपुल वृन्द अघ वन के' यार कई महीने से तबीयत सख्त परेशान है इसी से कुछ नहीं होता

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ ४६ ५०
२ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ ५१

हुवाता। अपन हाल लिखोगे? गर्मा जी हैं कहा? कभी फकीरो की भी याद करत ह?

एक तक्लीफ देंगे पर जल्द मदद दीजिए, तो बो नही तबीयत और कोठे मे गई तो फिर बस। इन दिना जी भी चाहता है कई मित्रा का तकाजा भी है इससे मतलब की सुनिए—

आप के पास 'हिंदोस्थान' का फायल जरूर है उसम हमारा जुवारी खुवारी प्रहसन है अधूरा यदि इसकी नकल भेज दीजिए ता पूरा करके छपवा डालें नही इच्छा आपका कालेकाकर वाले कहते हैं पुरानी कापी नही रही इसी ■ आप को कष्ट देते हैं। कुबूल हो तो खर नही तो अभाग्य फिर जवाबी काट? छि

Your s
PRATAP MISRA

नीचे हस्ताक्षर मजाक मे (रोमनी) इग्लिश मे है। जिहे किस्मत' विदेशी भाषा का वाक्य नीचे बिन्दी लगा लगा कर है और अपनी भाषा (हिन्दी) म विदेशी शब्दों का प्रयोग तदभव रूप म है—'तक्लीफ' फकीरा' आदि। 'तबीयत' और 'तबीग्रत' द्विविध वतनी है। आजकल 'दफ्तार मे फाइलें गायब' प्रयोग होत हैं। उस समय फायल' पु लग म चलता था। यदि उसकी नकल भेज दीजिए की जगह 'उसकी नकल दें तो पूरा करके छपवा डालें। भेज दीजिए के साथ 'यदि न रहेगा। कालेकाकर वाले और 'कालाकाकर' से प्रयाग आज चलत है। मिश्र जी ने 'आनन्द' को आनद और काट दूगा' को 'काट दू गा' लिखा है। यानी वे सवत्र अनुस्वार का प्रयोग करते थे। विराम चिह्न का वही हाल है। मौज आई वहा लगा दिया, नही तो डाक गाडी चली जा रही है स्टेशना को छोडती हुई। गुप्त जी की इबारत हमने सन् १९०० की दी है, मिश्र जी के इस पत्र से आठ वष आगे की। आठ वष पहले और थी, सन १८९२ म। सन १८८८ का उनका काड देख ही चुके हैं। यानी हिंदी का रूप बराबर निखर रहा था और पूरी तरह निखरा हुआ रूप तो प्रारम जैसा निमल है ही।

प० श्रीधर पाठक

पाठक जी खडी बोली के आद्य कवियो मे हैं। आप की भाषा भी गुप्त जी को लिखे एक पत्र मे देखिए—

श्री प्रयाग
नव० २९ ९२

मित्रवर

आप के कृपा काड के उत्तर म एक काड मैंने नारायणी तडाग (ननीताल) स भेजा था—तो पहुचा होगा। इसके द्वारा आप का मगल समाचार देता हू कि अब मेरा मासिक १००) हा गया है मित्रवर,

अवकाश के अभाव से कुछ लेख भारत प्रताप, को नियमित नहीं भेज सका हूँ और अब भारती भवन में उसे देख सकता हूँ अत पथक कापी की आवश्यकता नहीं है। आशा है कौन्ग्रेस के अवसर पर मिलना होगा। आप मेरे ही स्थान पर ठहरियेगा।[1]

गु० श्री० पा०

पाठक जी भी सवत्र अनुस्वार से ही काम लेते थे। विराम चिह्न बराबर देते थे कहा अधिक भी जसे समाचार देना हूँ कि' के आगे अल्प विराम देने की जरूरत नहीं वह स्वय अल्प विराम का काम करती है। पूर्ण विराम अंग्रेजी ढग का देते थे, आगे नीचे बिन्दी लगा कर। मालवीय जी भी ऐसा ही करते थे। गुप्त जी खडी पाई लगाते थे जसी कि आजकल लोग लगाते हैं। सो है वह की जगह। देख सकता है म कता है और आवश्यकता म क्ता है। पर अनान से उस समय लोग आवश्यकता लिख देत थे, आज भी लिख देते हैं। दख सकता हूँ जसा बोल देत हैं। यथाश्रुत लेखन पाठक जी पसन्द करते थे और इसीलिए 'इस्से' 'उस्मे उस्के इस्के' जसे प्रयोग भी वे करते थे। कांग्रेस उन्होंने कौनग्रेस' के रूप में लिखा है।

पाठक जी जान बूझ कर 'इस्से' उस्से चलाना चाहते थे जिसका विरोध महाकवि 'हरिऔध' ने किया था।

इस्से 'इस्का' इस्मे उस्ने किस्ने आदि और 'इससे 'इसका इसमे उसने' किसने आदि द्विविध प्रयोग पाठक जी गद्य पद्य दोनो मे करते थे। उनकी इच्छा थी कि इस्से आदि प्रयोग चल जाएँ। इसका समर्थन भी उन्होने किया था परन्तु इससे आदि का खण्डन नहीं किया था।

उन की इच्छा पूरी नहीं हुई यद्यपि एक दो हिन्दी लेखक उनके पथ पर कुछ दूर तक चले भी। प० लक्ष्मीधर वाजपेयी पर कदाचित् उन्ही का प्रभाव था कि उन्होंने उस्का नीला जल पट-तट श्रोणि से तू रहेगा और उस्के अन्तीहर शिखर प तू लख जा सका यो तथा 'जिस्की सेवा उचितरति के अन्त म मत्स्रो से' इत्यादि प्रयोग किए है। दिखाई देगा के लिए लखेगा प्रयोग चिन्त्य है और मत्स्रो से तो बहुत विचित्र प्रयोग है हिन्दी मे। परन्तु वाजपेयी जी ही क्या उस समय की (खडी बोली की) कविता ऐसे प्रयोगो से भरी पडी है। प्राय सभी कवि मन माने प्रयोग करते थे। हम यहाँ 'उस्क' 'उस्का आदि से मतलब है।

बात आई कि उस्के वर्ना' आदि प्रयोग चलें तो ठीक। एक कारण तो उन्होंने स्वय लिखा है कि उच्चारण के अनुसार उस्के आदि चल सकते हैं। दूसरा

---

1 बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रथ पृ० ४३

कारण यह भी हो सकता है, जो उनको अपने मत की पुष्टि में मिला होगा कि उस समय तक प्रकाश में आए 'भाषा विज्ञान' के ग्रंथों में 'इस' 'उस' आदि को व्यंजनान्त 'इस्' 'उस्' जैसे रूपों में लिखा माना गया है। यही नहीं, भाषा विज्ञान के ग्रंथों में—कर, धर, लिख, गल, तर, तिर, गिन आदि धातुओं को भी व्यंजनान्त —कर्, धर्, लिख्, गल्, तर्, तिर्, गिन् जैसे रूपों में माना गया है और मान्यता में भाषा विज्ञानियों ने उसी उच्चारण को प्रमाण माना है। आगे और भी घर, वन, धन, बालक, मन, जीवन, पावन आदि शब्दों को भी हिन्दी में व्यंजनान्त— घर्, वन्, धन्, बालक्, मन्, जीवन्, पावन् जैसे व्यंजनान्त रूपों में स्वीकार किया गया है। पाठक जी ने अंग्रेजी में भाषा विज्ञान के उन ग्रंथों में यह सब अवश्य देखा होगा और तब उनका ऐसा मत बनना स्वाभाविक है। आगे हिन्दी में जो भाषा विज्ञान के ग्रंथ बने, उनमें भी वही सब लिखा गया। केवल आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में सही मार्ग पकड़ा और भाषाविज्ञानियों का निरसन करके प्रतिपादित किया कि हिन्दी में वे सब शब्द स्वरान्त हैं, जिन्हें लोगों ने उच्चारण के अनुसार व्यंजनान्त मान लिया है। उच्चारण तो प्रदेश-भेद से बदलता है और देश प्रदेश की सीमाओं से आगे बढ़ कर कभी कोई भाषा सर्वभौम हो जाती है तब वह प्रादेशिक उच्चारण भेद से परे हो जाती है। ऐसी भाषा का साहित्य किसी एक ही रूप को ग्रहण करता है। अंग्रेजी के कई शब्दों का उच्चारण देश भेद से या प्रदेश भेद से अनेक तरह का चल रहा है, पर उसकी लिखावट में कोई हेर फेर नहीं करता। एक ही शब्द को एक ही लिखावट में कोई 'एजूकेशन' पढ़ता है कोई 'एड्यूकेशन' पढ़ता है। संस्कृत ऋषि का इधर हम लोग 'रिषि' जैसा उच्चारण करते हैं और गुजरात महाराष्ट्र आदि में इस ही 'रुषि' जैसे पढ़ते बोलते हैं। उच्चारण के अनुसार लिखावट कर दी जाए तो संस्कृत भाषा की व्यापकता भंग हो जाएगी। हिन्दी भी व्यापक भाषा है। '<u>आप ने कब राम से काम</u> लिया' इस वाक्य के रेखांकित शब्दों के अन्त्य अ का उच्चारण हम लोग कुछ हलका करते हैं, परन्तु सिन्ध, मदरास, बंगाल आदि में वैसा (हलका) उच्चारण नहीं होता। किसी सिन्धी या मदरासी के मुंह से आप ऐसे शब्दों के अन्त्य 'अ' का उच्चारण हलका न सुनेंगे। यदि उच्चारण के अनुसार हिन्दी लिखी जाए तो ऊपर का वाक्य सिन्ध मदरास बंगाल आदि में उसी तरह रहेगा जबकि इधर यों लिखा जाएगा—

आप ने कब् राम् से काम् लिया।

मारे डंडों के हिन्दी का कचूमर निकल जाएगा। या फिर यों लिखा जाएगा—

आप्ने कब्राम् से काम्लिया।

कैसी मजेदार भाषा बन जाएगी ? अभी हाल में प्रकाशित भाषा विज्ञान की एक पुस्तक में लिखा है कि आप घर 'कर' आदि शब्द हैं तो व्यंजनान्त ही (आप घर कर) परन्तु लिखावट में वे सब स्वरान्त (अकारान्त) हो जाते हैं। यह क्या हुआ ? कोई कहे गुड़ होता तो नमकीन है परंतु जब वह मुंह में रखा जाता है तब मीठा हो जाता है तो आप उसे क्या कहेंगे ?

वस्तुतः हिंदी की प्रकृति ही स्वरान्त शब्द ग्रहण करने की है और इसीलिए यहाँ उस्क जैसे रूप नहीं चले। प्राकृत और अपभ्रंश काल में ही जनभाषा ने व्यञ्जनान्त प्रवृत्ति छोड़ दी थी। हिंदी तो बहुत आगे की चीज है। हिमालय से गंगा नीचे उतर कर फिर हिमालय पर कैसे चढ़ेगी ? लाख भगीरथ भी वैसी प्रवृत्ति उसे नहीं दे सकते। यदि हिंदी में इस् उस जैसे व्यंजनान्त रूप गृहीत होते, तो संस्कृत नमस पयस आदि के अन्त्य व्यंजन (स) को हटा कर हिंदी उनके स्वरान्त रूप नभ पय आदि को ग्रहण करती ? नामन् धामन आदि के व्यंजन हटा कर नाम धाम जैसे अपने प्रातिपदिक क्या बनाती ?

खैर कहने का मतलब यह कि पाठक जी का मत हिंदी ने स्वीकार नहीं किया। इतना स्पष्ट है कि हिंदी के रूप की छानबीन उस समय हो रही थी। पाठक जी के विचार भी इसकी पुष्टि करते हैं। ऐसे विचार आज भी चल रहे हैं।

पं० मदन मोहन मालवीय

महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय में भगवान ने असाधारण शक्ति भर दी थी। वे कांग्रेस के नेता दो बार उसके अध्यक्ष हुए उस समय काशी हिंदू विश्वविद्यालय बना कर खड़ा कर दिया जबकि उसकी कल्पना भी लोगों को आश्चर्य में डालने वाला था। हिंदी के प्रथम दैनिक समाचार पत्र हिन्दोस्थान के प्रथम प्रधान सम्पादक थे हुए और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रथम सभापति हुए। हिंदी साहित्य सम्मेलन के भी वे प्रथम सभापति हुए और अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के भी प्रथम सभापति। विभिन्न दिशाओं में विभिन्न राष्ट्रीय सेवाएं उनकी ऐसी थीं, जिनका आभास विभिन्न संस्थाओं का प्रथम पद बन्न कुछ देता है।

उस समय महर्षि मालवीय की हिन्दी का क्या रूप था यह देखने के लिए यहाँ उनके हाथ का लिखा एक चिट्ठा दिया जा रहा है जो उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त को सन् १८८९ में लिखा थी। गुप्त जी पहले उर्दू-जगत में थे और उनके नाम के आगे माग हिन्दी पत्र का प्रणाम करते थे।

१८८९ में वे हिन्दी-जगत में आ गए, महर्षि मालवीय जी के आग्रह से। हिन्दोस्थान में पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि के साथ मालवीय जी के सहयोगी

रहे—'हिंदोस्थान' के सहकारी सम्पादक। उस समय भी उन्हें लोग 'मुंशी जी' ही कहते थे। जब कलकत्ते जा कर भारतमित्र के प्रधान सम्पादक हुए तब मुंशीपन छूट गया और वे बाबू बालमुकुन्द गुप्त नाम से प्रसिद्ध हुए। महर्षि मालवीय जी की चिट्ठी यह है—

प्रिय मुंशी बालमुकुन्द जी,

आप के २ ता० के दो पोस्टकार्ड पहुंचे। दूसरे को पढ कर अत्यन्त दुःख हुआ, राजा साहब ने क्या समझ कर आपको डिसमिस किया है, वे ही जानते हैं अथवा कालाकांकर में हैं वे जानते हों, किन्तु उन्होंने बुद्धिमानी की बात नहीं की। हिंदोस्थान के लिए जो आप करते थे वह दूसरा इतने अल्प वेतन में सन्तोष करने वाला पुरुष कदापि नहीं कर सकेगा। अस्तु इच्छा उनकी। आप कालेकांकर जाकर अपना शेष वेतन ले आइये और वहां से लौट कर कृपा कर इधर दो एक बार चले आइयेगा। ईश्वर चाहेगा तो शीघ्र आपको कोई अधिक हितकारी काम हाथ आ जायगा।

आपको ऐसा कोई काम जिसमें अधिक (देशाटन) घूमना पड़े करना कैसा प्रिय होगा? यदि पत्रिका वाले आप को कुछ मासिक कर दें और घूमने का खर्च दें, तो उनका काम, जो अधिक अंश में आपका, हमारा देश का काम है, आप का स्वीकार्य होगा? मुझ को उनसे कुछ इस प्रकार की बातचीत नहीं आई। केवल उन्होंने एक बार अंग्रेजी हिन्दुस्तान के निकलने पर मुझसे पूछा था कि क्या बालमुकुन्द का काम अब हिंदोस्थान आफिस में न रहेगा—उनको आप की तबियत के हिंदोस्थानी सज्जन की आवश्यकता मालूम देती है।

यदि आप को पसन्द हो तो लिखिये कि आप किस वेतन पर और किन शर्तों पर उनके घूमते कारस्पांडेंट होना स्वीकार करेंगे। आपका पत्र आने पर मैं उनसे इसकी साफ-साफ बातचीत करूंगा। काम वह ऐसा ही चाहेंगे कि जैसा रोहतक में जाकर वहां उचित कार्रवाई करना-आचारण विषय में—देशी राज्यों में जा कर वहां ठीक ठीक समाचार देना इत्यादि।

कृपा कर उत्तर शीघ्र लिखियेगा।[1]

५,२,६२

आपका हित०

मदन मोहन मालवीय

रोहतक में क्या हुआ सो भी समाचार लिखियेगा। कन्सेंट बिल का विरोध वर्तमान अवस्था में अनुचित निष्फल और कांग्रेस के लिए अत्यन्त हानिकारी है। किन्तु विशेष आप के आने पर कहेंगे।

---

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृ० ३८-३९

नीचे हुसता र करक फिर कुछ वा धा पर रोहाव भा की चर्चा पत्र म महर्षि न की है। पत्रिका से मतलब 'अमृत बाजार पत्रिका।

'हुवा हुय आदि प्रयोग उस समय कम ही प्रचलित थ जस कि अब तक 'आवेगा 'जावेगा आदि। जस आज हुवा हुये देख कर एक कुतूहल होता है उसी तरह प्रयोग करने वाले लोगों को आयगा जायगा जैसे प्रयोग देख कर हुआ करेगा। कुछ लोग हुवा हुय इन प्रयोग भी करते थे जो और भी विचित्र जान पड़ते हैं। परन्तु पहले हुवा हुय ही चले उसके बाद हुवा हुए आदि। पंजाब में बोलते हैं—की होया। हम बोलते हैं—क्या हुआ। होया' भी हिन्दी वालों के लिए कुतूहल की चीज है—परन्तु सोया रोया धोया आदि प्रयोग सभी करते हैं। जब 'सोना है के भूतकाल में प्रयोग 'सोया 'सोया था आदि होते हैं तब 'होना है का 'होया 'होया होगा आदि क्यों नहीं? परन्तु हिन्दी में 'हो धातु का असाधारण रूप में रखा है। सो, रो, धो खो आदि अन्य सभी ओकारान्त धातुओं से इस (हो) में एक विलक्षणता रखी है कि यहाँ भूतकालिक य प्रत्यय लुप्त कर दिया है और 'हो को हु कर दिया है—होया 7 हुया 7 हुआ'। सोया होया है का अपेक्षा 'सोया हुआ है बहुत-व्यवहार में अच्छा लगता है। परन्तु सोया आदि में य देख कर कुछ लोगों ने हुआ में भी जोड़ लिया—हुया हुय लिखने लगे। परन्तु अवध में तो 'य' को व कर लेने की प्रवृत्ति है 'आया भी वहाँ आवा हो गया है इस लिए हुवा' 'हुय बन गए 'हुवा' हुव। आगे चल कर फिर निखार हुआ और चल 'हुआ', हुए।

करगे करेंगे आदि दोनों रूप विकल्प से ठीक समझे जाते थे जैसे कि आज कल लतायें—लताएँ या गयी—गई गये—गए आदि। करगो कर आदि ब्रजभाषा में चलते है। उसी की छाया—कर करगा' आदि। आगे फिर 'करे 'करेगा निखरे रूप। महर्षि मालवीय तथा उस समय के अन्य सभी लेखक वैसे वैकल्पिक प्रयोग करते थे। एक ही पत्र या लेख में कभी करेंगे और कभी 'करेंगे।

'कालाकाकर में' सुन्दर प्रयोग है। परन्तु उस समय लोग कालेकाकर में जैसे प्रयोग भी करते थे। स्वयं मालवीय जी ने भी वसे प्रयोग किए हैं और गुप्त जी ने भी। परन्तु 'कालाकाकर से कालाकाकर में आदि प्रयोग अधिक अच्छे। कालाकाकर' एक नगर का नाम है। ऐसे यौगिक नाम का पूर्वांश यदि अकारान्त हिन्दी शब्द हो तो सामने विभक्ति आने पर उसका आ ज्यों का त्यों रहता है 'ए का रूप नहीं ग्रहण करता। पडापुर से वह चला गया' यहा पडपुर ठीक न होगा।

डडाबेडी से कदिया के पर छिल जाते हैं यहां डडेबेडी से ठीक न होगा।

'डंडा' यहाँ स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। 'डंडा' और वेडी मिला कर 'डंडावेडी'। 'काला' शब्द भी 'कालाकांकर' में अपनी सत्ता पृथक नहीं रखता।' 'कालाकांकर' एक नगर का नाम है। रूढ़ संज्ञा है—कालाकांकर। इसलिए 'कालेकांकर' से प्रयोग ठीक नहीं हैं। बालमुकुन्द स्मारक ग्रंथ में उस समय के सभी लेखकों ने वैकल्पिक प्रयोग 'काला-कांकर' और 'कालेकांकर' से किए हैं। इसी तरह 'काले पानी में वे कैद थे, समझिए। काला पानी एक रूढ़ संज्ञा है। इसलिए 'काला पानी में वे कैद थे' प्रयोग सही है। यदि काला किसी संज्ञा का अंग न हो, विशेषण हो, तब प्रयोग जरूर सही होगा। उदाहरण—काले बाजार में सब चीजें मिल जाती हैं। दाम चाहिए'। 'काला बाजार' अंग्रेजी के 'ब्लैक मार्केट' का अनुवाद है। 'काला' विशेषण है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है—चोर। 'चोर बाजार' और 'काला बाजार' एकार्थक शब्द हैं।

यह बात तो सत्तर अस्सी वर्ष पुरानी है। आज भी लोग 'अपनी इच्छानुसार' और 'अपने इच्छानुसार' जैसे रूपों में लिखते हैं। इन में से सही कौन सा प्रयोग है और गलत कौन सा, यह छठे अध्याय में बतलाया जाएगा। सो, उस समय के 'कालाकांकर से' और 'कालेकांकर से' प्रयोग कोई असाधारण चीज नहीं है। तो भी 'कालेकांकर ने मेरी कमर तोड़ दी' जैसे प्रयोग भ्रामक होंगे। लोग समझ सकते हैं कि काले कंकड़ ने कमर तोड़ दी। यह और बात है कि प्रकरण से ज्ञात हो जाए 'तत्र भवान राजा रामपाल सिंह की राजधानी ने हमें तबाह कर दिया, मतलब है।

'आ जाएगा' जैसे (सहायक क्रिया को मुख्य क्रिया से सटा कर) संयुक्त क्रिया के प्रयोग होते थे। आज कल 'आ जाएगा'। 'था' 'थे' के पृथक लिखने की चाल है। पुरानी चाल में कोई दोष नहीं, पर सहायक क्रिया को अलग रखने की प्रवृत्ति हिन्दी में है—उसे बचा तो कोई सकेगा नहीं, पर उद्योग करना क्यों छोड़ा जाए, ऐसे प्रयोग होते हैं। 'बचा सकेगा' का 'बचा' कहीं है और 'सकेगा' कहीं। ऐसे ही कारणों से पृथक प्रयोग की पद्धति चली। अन्वय तो शब्द सामर्थ्य से हो ही जाता है।

'पूँछा था' जैसे अनुनासिक स्वर से आज भी कानपुर इलाहाबाद में बोलते हैं। परन्तु साहित्य में आगे चल कर 'पूछा था' जैसे निरनुनासिक प्रयोग ही पसन्द किए गए। 'इन की कहीं पूछ नहीं है' बोलते हैं। 'पूछ नहीं है' भिन्न प्रयोग है। 'पूँछ छोर' के पूछ से भेद करने के लिए ही 'पुच्छ' का रूपान्तर हिन्दी में 'पूँछ' हुआ, अन्यथा 'पुच्छ' का 'पूछ' ही रूप बनता चलता, जैसे 'अच्छ' का 'अच्छा'। 'धृष्ठ' का रूपान्तर 'ढीठ' है, 'ढींठ' नहीं। हिन्दी भाषी आज भी अनुनासिक अननुनासिक स्वरों में झमेला करते हैं। 'बाँट' को 'बाट' निरनुनासिक लिखते हैं। 'दुनियाँ' को 'दुनिया' लिख देते हैं। जैसे 'पानी' से 'पनियाँ' उसी तरह 'दुनी' से 'दुनियाँ' है। 'पनिया मरन जाऊँ' गलत है, 'पनियाँ मरन जाऊँ' शुद्ध है। परन्तु

'दुनिया' से बना विशेषण दुनियवी निरनुनासिक है। 'दुनियँवी' कोई नहीं बोलता। सन १९०० तक 'पूछ' 'पूँछ' दोनों चलते थे। आगे निखार हुआ और पूछ पूँछ भिन्नार्थक शब्द रूपों में भेद हो गया।

पूर्ण विराम अंग्रेजी वाला ही महर्षि ने दिया है, परन्तु कहीं-कहीं खड़ी पाई भी काम में लाए हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह

राजा लक्ष्मण सिंह का भी एक कार्ड देखिए, जो उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के एक पत्र के उत्तर में भेजा था—

प्रिय महाशय,

आगरा
२१ अप्रैल

मेघदूत आपको लाला काशीनाथ खत्रीसे मुकाम सिरसा जिला इलाहाबादसे मिल सकेगा और रघुवंश मुन्शी नवल किशोर से मेरा शकुन्तला का नया अनुवाद हिन्दी के गद्य पद्य में आगरे में ठाकुर जाहरसिंह मिलेगा—

लछमन सिंघ[1]

राजा साहब ने कार्ड में सन का उल्लेख नहीं किया है। यह कार्ड सन १८८८ के अप्रैल का है। इसी समय गुप्त जी हिन्दी की ओर मुड़ रहे थे।

राजा साहब ने अपना नाम 'लछमन सिंघ' लिखा है, जिसे बाद में लोगों ने 'लक्ष्मण सिंह' के रूप में प्रकट किया। अब 'लछमन सिंघ' लिखो तो कोई समझेगा ही नहीं। राजा साहब को लक्ष्मण सिंह लिखना न आता हो—ऐसी बात है नहीं परन्तु जो नाम गाँव घर में चल रहा था, उसी का व्यवहार वे करते थे।

राजा साहब भी विभक्तियाँ सटा कर ही लिखते थे और इसीलिए खत्रीसे जिला इलाहाबादसे जैसे प्रयोग है। आजकल 'आप को लाला काशीनाथ खत्री (मुकाम सिरसा जिला इलाहाबाद) से मिल सकेगा' इस तरह प्रयोग होते हैं। हिन्दी के गद्य पद्य में चलता है। के का लोप समझिए। वह ग्राम को घर मिलेगा में 'घर' के आगे की में या 'पर' का लोप। मतलब साफ समझ में आ जाता है। अर्थश्चेदवगत किं शब्देन? अर्थ स्पष्ट हो जाए तो फिर व्यर्थ शब्द प्रयोग किस काम का। परन्तु उस समय हिन्दी में लोग फूंक फूंक कर पाँव रखते थे। सावधानी हद से ज्यादा बरतते थे। उसी का परिणाम है—हिन्दी के गद्य पद्य में आदि।

परन्तु राजा साहब की भाषा बहुत साफ है। 'सकेगा' 'मिलेगा' जैसे प्रयोग आगरे में बैठ कर वे कर रहे हैं, जहाँ 'मिल' कर जैसे प्रयोग जन भाषा में होते हैं।

---

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ २३ २४

परन्तु राजा साहब की भाषा सुधरते सुधरते ऐसी हुई थी। वे बराबर अपनी भाषा का सुधार करते रहते थे। उन्होंने लिखा है—मैंने इस दूसरी बार के छापे (संस्करण) में अपने जाने सब दोष दूर कर दिये हैं। पहले राजा साहब भी जिन्ने (जिनने) 'सुन्ने (सुनने) तथा इस्से (इससे) उस्से (उससे) लिखा करते थे। हिन्दी अपना निखार कर ही लेती है।

जिनने 'उनने' आदि पर विचार कर ही आए हैं। विराम चिन्ह उस समय के अनुसार है।

प० महावीर प्रसाद द्विवेदी

उस युग सन्धि में आचार्य द्विवेदी की भाषा कैसी थी, यह भी देख लेना चाहिए। आप तो वे एक युग के निर्माता ही हैं।

सन १९०० के फरवरी में (ता० १९) के 'भारत मित्र' में द्विवेदी जी के 'कुमारसम्भव सार' का कुछ अंश छपा था। उसके नीचे (स्वयं द्विवेजी का लिखा हुआ) यह नोट छपा था—

"कानपुर में एक G K SRIVASW (जी० के० श्री वस्वी) महाशय हैं। आप का हिन्दी नाम हम को मालूम नहीं। लाला सीताराम बी० ए० के चिरञ्जीव गिरिजा किशोर के नाम में भी जी० के० है। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि वह यही महाशय है। जी० के० जी हम से सख्त नाराज हैं। अपराध हमारा यह है कि हमने लाला सीताराम के अनुवादों की समालोचना की है। आपने हम को उपदेश दिया है कि लाला साहब के अनुवादों की समालोचना करना छोड़ एक आध संस्कृत ग्रन्थ का हम भी अनुवाद करें। आप के उपदेश को मान देकर आज हमने यह सार लिखा है। यदि जी० के० महाशय को यह सार पसन्द आया, तो अनुवाद लिखने का भी अवकाश मिलने पर हम विचार करेंगे, परन्तु समालोचना से हाथ खींचने के विषय में आप के उपदेश को मान देना चाहिये, अथवा नहीं—इस बात का निश्चय अभी तक हमने नहीं किया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

झांसी १३ फरवरी १९००"

भाषा बहुत साफ है। 'अनुवाद करना' और 'अनुवाद लिखना' एक ही बात है, परन्तु आजकल 'अनुवाद करना' चलता है। 'गुप्त निबन्धावली' से यह नोट हमने लिया है। इसमें 'चाहिये' छपा है परन्तु 'सरस्वती' में 'चाहिए' का चलन मिलता है। गुप्त जी 'चाहिये' लिखा करते थे। वे ही भारत मित्र के सम्पादक थे। हो सकता है कि गुप्त जी ने 'चाहिए' को 'चाहिये' छापा हो, जैसे कि (सन् १९०३

'दुनियां' से बना विशेषण 'दुनियबी' निरनुनासिक है। 'दुनियँवी' कोई नहीं बोलता। सन १६०० तक 'पूछ' 'पूँछ' दोनों चलते थे। भाग निखार हुआ और पूछ पूँछ भिन्नार्थक शब्द रूपों में भेद हो गया।

पूर्ण विराम अंग्रेजी वाला ही महर्षि ने लिया है, परन्तु कहीं-कहीं खड़ी पाई भी काम में लाए हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह

राजा लक्ष्मण सिंह का भी एक कार्ड देखिए, जो उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के एक पत्र के उत्तर में भेजा था—

प्रिय महाशय,

आगरा

२१ अप्रेल

मेघदूत आपको लाला काशीनाथ खत्रीसे मुकाम सिरसा जिला इलाहाबादसे मिल सकेगा और रघुवंश मुन्शी नवल किशोर से मेरा शकुन्तला का नया अनुवाद हिन्दी के गद्य पद्य में आगरे के ठाकुर जाहरसिंह मिलेगा—

लछमन सिंघ[1]

राजा साहब ने कार्ड में सन का उल्लेख नहीं किया है। यह कार्ड सन १८८८ के अप्रेल का है। इसी समय गुप्त जी हिन्दी की ओर मुड़ रहे थे।

राजा साहब ने अपना नाम 'लछमन सिंघ' लिखा है, जिसे बाद में लोगों ने लक्ष्मण सिंह के रूप में प्रकट किया। अब 'लछमन सिंघ' लिखो तो कोई समझेगा ही नहीं। राजा साहब को लक्ष्मण सिंह लिखना न आता हो—ऐसी बात है नहीं परन्तु जो नाम गांव घर में चल रहा था, उसी का व्यवहार वे करते थे।

राजा साहब भी विभक्तियां सटा कर ही लिखते थे और इसीलिए 'खत्रीसे' 'जिला इलाहाबादसे' जैसे प्रयोग हैं। आजकल 'आप को लाला काशीनाथ खत्री (मुकाम सिरसा जिला इलाहाबाद) से मिल सकेगा' इस तरह प्रयोग होते हैं। हिन्दी के गद्य पद्य में चलता है। 'के' का लोप समझिए। 'वह शाम को घर मिलेगा' में 'घर' के आगे की 'में' या 'पर' का लोप। मतलब साफ समझ में आ जाता है। अथस्त्वेदवगत किं शब्देन ? अर्थ स्पष्ट हो जाए तो फिर व्यर्थ शब्द प्रयोग किस काम का। परन्तु उस समय हिन्दी में लोग फूंक फूंक कर पांव रखते थे। सावधानी हद से ज्यादा बरतते थे। उसी का परिणाम है—हिन्दी के गद्य पद्य में आदि।

परन्तु राजा साहब की भाषा बहुत साफ है। 'सकेगा' 'मिलेगा' जैसे प्रयोग आगरे में बैठ कर वे कर रहे हैं जहां 'मिल सकेगा' जैसे प्रयोग जन भाषा में होते हैं।

---

१ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ पृष्ठ २३-२४

परन्तु राजा साहब की भाषा सुधरत सुधरत ऐसी हुई थी। वे बराबर अपनी भाषा का सुधार करते रहते थे। उन्होंने लिखा है— मैंने इस दूसरी बार के छाप (संस्करण) मे अपने जाने सब दोष दूर कर दिये हैं। पहले राजा साहब भी जिने (जिनने) 'सुने (सुनन) तथा इन्से (इससे) उस्से (उससे) लिखा करते थे। हिंदी अपना निखार कर ही लेती है।

'जिनने' 'उनने' आदि पर विचार कर ही आए है। विराम चिह्न उस समय के अनुसार है।

५० महावीर प्रसाद द्विवेदी

उस युग सन्धि मे आचार्य द्विवेदी की भाषा कैसी थी, यह भी देख लेना चाहिए। आग तो वे एक युग के निर्माता ही हैं।

सन १६०० के फरवरी म (ता० १६) के 'भारत मित्र' मे द्विवेदी जी के 'कुमारसम्भव सार' का कुछ अंश छपा था। उसके नीचे (स्वयं द्विवेजी का लिखा हुआ) यह नोट छपा था—

"कानपुर मे एक GK SRIVASW (जी० के० श्री वस्वी) महाशय हैं। आप का हिन्दी नाम हम को मालूम नही। लाला सीताराम बी० ए० के चिरञ्जीव गिरिजा किशोर के नाम म भी जी० के० हैं। परन्तु यह विश्वास नही होता कि वह यही महाशय हैं। जी० के० जी हम से सख्त नाराज है। अपराध हमारा यह है कि हमने लाला सीताराम के अनुवादो की समालोचना की है। आपने हम को उपदेश दिया है कि लाला साहब के अनुवादो की समालोचना करना छोड एक आध संस्कृत ग्रन्थ का हम भी अनुवाद करें। आप के उपदेश को मान देकर आज हमने यह सार लिखा है। यदि जी० के० महाशय को यह सार पसन्द आया, तो अनुवाद लिखने का भी अवकाश मिलने पर हम विचार करेंगे परन्तु समालोचना से हाथ खीचने के विषय म आप के उपदेश को मान देना चाहिये, अथवा नही—इस बात का निश्चय अभी तक हमने नही किया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

झाँसी १३ फरवरी १६००'

भाषा बहुत साफ है। अनुवाद करना' और 'अनुवाद लिखना' एक ही बात है, परन्तु आजकल 'अनुवाद करना' चलता है। 'गुप्त निबन्धावली' से यह नोट हमने लिया है। इसमे 'चाहिये' छपा है, परन्तु 'सरस्वती' म 'चाहिए' का चलन मिलता है। गुप्त जी 'चाहिये' लिखा करते थे। वे ही भारत मित्र के सम्पादक थे। हो सकता है कि गुप्त जी ने 'चाहिए' को 'चाहिये' छापा हो, जैसे कि (सन १६०३

से) 'सरस्वती' को भेजे गए विभिन्न लेखकों के लेखों में 'चाहिये' को हटा कर द्विवेदी जी का 'चाहिए' छपा देखा जाता [illegible]। 'चाहिये—चाहिए' आदि का विचार विश्लेषण पाँचवें अध्याय में होगा।

यहाँ द्विवेदी जी की पंक्तियाँ इस लिए दी गई हैं कि जिससे उनकी सन १९०३ से १९२० तक की भाषा पर तुलनात्मक विचार किया जा सके।

सन १९०० के ही सितम्बर मास की ये पंक्तियाँ हैं आचार्य द्विवेदी की—

'हमने सुना है कि सुदर्शन के सम्पादक अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं। यदि यह बात सत्य है तो हम नहीं जानते कि वेबर साहब के अशास्त्रज्ञ, अहंकारी और झूठे होने का प्रमाण उनको कैसे मिला। जहाँ तक हम जानते हैं प्रोफेसर वेबर की पुस्तकों का संस्कृत हिंदी बंगला आदि इस देश की भाषाओं में अभी तक अनुवाद नहीं हुआ है। प्रोफेसर साहब की किताब से नैषध चरित चर्चा में अनुवाद सहित हमने एक अवतरण दिया है। उसी से शायद सम्पादक जी ने उनके झूठे होने का सिद्धांत निकाला हो अथवा उनके ग्रंथों का मर्म किसी से सुना हो। किसी को झूठा कहना उसका अपमान करना है। हिन्दोस्तान के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त काव्य विशारद बाबू रास बिहारी को झूठा कहने के ही कारण आजकल मान हानि के अभियोग में फँसे हैं।

वेबर साहब ने भारत के प्राचीन साहित्य का इतिहास लिखा है। उसमें उन्होंने वेद, पुराण दर्शन काव्य, व्याकरण ज्योतिष इत्यादि सभी विषयों पर बहुत कुछ कहा है। उनके लेखों से यही जान पड़ता है कि वे संस्कृत के विद्वान हैं। विद्वानों में परस्पर मत भेद हुआ ही करता है।

अतः वेबर साहब के सिद्धान्तों से यदि दूसरों के सिद्धांत न मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु ऐसा होने से वेबर साहब पर झूठ बोलने का आरोप किस प्रकार किया जा सकता है? प्रोफेसर मोक्षमलर से डाक्टर भांडारकर स्वयं मिले हैं और विलायत से लौटने पर उन्होंने जो लेख लिखा है, उसे पढ़ने से जान पड़ता है कि वे (प्रोफेसर साहब) संस्कृत भाषा के विद्वान् हैं। मोक्षमूलर के मत से भी किसी किसी विषय में औरों के मत का पार्थक्य देखा जाता है। तो क्या इससे यह सिद्धांत निकल सकता है कि मोक्षमूलर अशास्त्रज्ञ और झूठे हैं?

सुदर्शन के पास प्रोफेसर वेबर के झूठे अशास्त्रज्ञ और संस्कृत में विद्वान् न होने के प्रमाण होंगे तब तो उन्होंने ऐसा लिखा है। जर्मनी में बैठ कर संस्कृत के ग्रंथों की खोज करना और संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख कर योरोप के विद्वानों का चित्त उस ओर आकर्षित करना हमारी समझ में, प्रशंसा की बात है। सुदर्शन की दृष्टि में प्रोफेसर वेबर चाहे जैसे हों हमारी दृष्टि में तो वे सर्वथा आदरणीय हैं।'[1]

---

१ आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास पृ० २७-२८

सन् १६०० की लिखी ये पंक्तियाँ हैं। यदि किसी को उनके लिखे जाने का समय न बताया जाए तो उसे पता ही न चलेगा कि अब से तिरसठ चौसठ वर्ष पहले की यह भाषा है। आज की हिन्दी में और सन् १६०० की उपर्युक्त हिन्दी में क्या अन्तर है? ऐसा जान पड़ता है कि सन् १६६४ को किसी महीने में किसी विद्वान की लिखी ये पंक्तियाँ हैं।

आगे हम द्विवेदी-युग की भाषा पर विचार करेंगे। उस समय द्विवेदी जी दूसरे लेखकों की भाषा ठीक करते दिखाई देंगे। जो लोग कहा करते हैं कि दस बीस वर्षों में भाषा का रूप बदल जाता है वे कितने भ्रम में हैं। चौंसठ वर्ष बीत जाने पर भी भाषा का रूप कहाँ क्या बदला? हाँ, लेखकों की स्थिति बदलती है। दस वर्ष पहले कोई गलत भाषा लिखता था और अब शुद्ध परिमार्जित लिखता है तो भाषा बदली, या कि उस लेखक की स्थिति बदली? भाषा इस तरह नहीं बदलती। उस का रूप बदलता जरूर है पर उस में बहुत लम्बा समय लगता है। हिन्दी का जो रूप अमीर खुसरो की पंक्तियों में है वही आज भी है। 'बीसों का सिर काट लिया' को आज क्या कुछ और तरह से बोलते हैं? साहित्य में लेखकों की भाषा कुछ की कुछ हो जाती है। उसी का संशोधन द्विवेदी जी जैसे लोग करते हैं।

पाचवाँ अध्याय

सन् १९०१–१९२०

द्विवेदी युग

इस अध्याय को हम दो भागों में रखेंगे—'द्विवेदी युग' और 'द्विवेदी युग का परिशिष्ट'। सरस्वती सन् १९०० में निकली, पर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को सन् १९०३ के प्रारंभ में सम्पादन सेवा के लिए आमंत्रित किया गया। सो वस्तुत सन् १९०३ से ही द्विवेदी युग समझना चाहिए। सन् १९२० से १९५० तक का काल लावारिश जैसा ही रहा—कोई विचार अकुश नहीं रहा। परन्तु मोटे तौर पर १९०१ से १९२० तथा १९२१ से १९६० के रूप में विभाजन है। १९६० के बाद जो कुछ (१९६४ फरवरी तक) हुआ है उसका उल्लेख छठे अध्याय में होगा—'हिन्दी का सुपरिमार्जित रूप' नाम से।

आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में एक लेख लिख कर भाषा शुद्धि पर जोर दिया था जिस का आवश्यक अंश हम उद्धृत करेंगे। इस लेख का और इसके लेखक का 'भारत मित्र' सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने बड़ा मजाक उड़ाया और एक तरह पूरी तरह बात उड़ा देने का प्रयत्न किया।[1]

उनके कई साथियों ने भी उनका साथ दिया। परन्तु कई सुलझे हुए विद्वानों ने द्विवेदी जी के पक्ष का समर्थन किया। आगे फिर इस सबंध में कोई लेख न निकाल कर भाषा का क्रियात्मक रूप में परिमार्जन आचार्य द्विवेदी ने शुरू किया। 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वमान्य हिन्दी पत्रिका थी। उस में सभी विद्वान हिन्दी लेखकों के लेख छपने जाते थे। स्वीकृत लेखों का सम्पादन द्विवेदी जी किस तरह करते थे—और भाषा पर कितना ध्यान देते थे, यह सब जानते हैं। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में 'सरस्वती' में प्रकाशित विभिन्न विद्वान लेखकों की जो द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित

१ बालमुकुन्द गुप्त—गुप्त निबंधावली, पृष्ठ ४०६
सम्पादक—श्री झाबरमल्ल शर्मा श्री बनारसी दास चतुर्वेदी।
'भारतमित्र'—१९०६

संशोधित पाण्डुलिपियाँ रखी हैं, वे ही सब स्थिति स्पष्ट कर देती हैं। आचार्य द्विवेदी ने यह नहीं लिखा कि 'चाहिये' गलत है 'चाहिए' शुद्ध है, परन्तु 'सरस्वती' में 'चाहिए' ही छपता था। लोग 'चाहिये' लिख कर भेजते थे, द्विवेदी जी 'चाहिए' कर देते थे। परन्तु दूसरी जगह दूसरे लोग 'चाहिये' ही लिखते छापते रहे। कह देते थे — हम तो 'चाहिये' के पक्ष में हैं, । 'क्या चाहिये' का पक्ष, इसमें कोई तर्क नहीं। द्विवेदी युग के परिशिष्ट में आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी की प्रकृति, प्रवाह, व्याकरण और भाषा विज्ञान के अनुसार तर्कबल से निर्णय दिया कि हिन्दी में 'चाहिए' शुद्ध है और 'चाहिये' गलत।

इसी तरह अन्यान्य शब्दों का रूप विवेचन हो चुका है। सन १९२५ से १९६० तक द्विवेदी युग के परिशिष्ट में आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी के सभी शब्दों पर विचार करके सुव्यवस्थित निर्णय दिए। पहले 'लेखन-कला' में हिन्दी शब्दों पर विचार हुआ फिर पत्र पत्रिकाओं में विचार प्रकट होते रहे 'हिन्दी शब्द निर्णय', 'हिन्दी शब्द मीमांसा' तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' ग्रन्थ लिखे गए, और सभी शब्द रूपों पर विचार किया।

सभी भाषाओं में गलत सलत लिखने वाले होते हैं। सो, अपने 'परिशिष्ट' सहित द्विवेदी युग हिन्दी के रूप निर्णय का पूर्ण सफल युग है। साहित्य की दृष्टि से भी 'द्विवेदी युग' महत्वपूर्ण है। साहित्य की विविध दिशाओं का ग्रहण इसी युग में हिन्दी ने किया। साहित्य तो आगे बढ़ता ही जाएगा, 'स तु तत्र विशेष दुर्लभ 'सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मयः'—मार्ग दर्शक का सबसे बढ़ कर महत्व है। परन्तु हिन्दी का रूप निर्णय तो एकदम पूर्ण हो चुका। इस सम्बन्ध में और कुछ करना शेष नहीं है। अब कोई कहे— हिन्दी के रूप पर पूरी तरह विचार हो जाना चाहिए तो समझना चाहिए कि अपने अज्ञान से वह ऐसा कह रहा है और हिन्दी की तौहीन कर रहा है। यही इस अध्याय का अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय है।

१८६० से १९०३ तक का काल एक 'युग सन्धि' है। इसे द्विवेदी-युग का उषा काल भी कह सकते हैं।

सन् १९०५ के नवंबर में आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती में भाषा-शुद्धि पर एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'भाषा और व्याकरण'। उस लम्बे लेख में द्विवेदी जी ने भाषा के रूप और उसकी गतिविधि का विस्तार से वर्णन करके यह कहा है कि हिन्दी जैसी व्यापक भाषा का साहित्य में परिमार्जित और व्याकरण सम्मत रूप रहना चाहिए। भाषा में अंधाधुंधी और मनमानी ठीक नहीं। एक रूपता यदि भाषा में न होगी, तो उस का साहित्य दूर देश और दूर काल में दुर्बोध हो जाएगा। यह सब लिखने के बाद उन्होंने अपने हिन्दी-साहित्य से कुछ उदाहरण

दिए हैं, यह दिखाने के लिए कि भाषा के साथ कैसी खिलवाड़ हो रही है। वे लिखते हैं—

यहाँ हम व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के दो चार उदाहरण देना चाहते हैं उनसे इस कारण हम शतबार क्षमा प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हो चाहे परलोक में। इस में बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है। और एक को देखा देखी दूसरा भी उसकी कम परवा करता है। अच्छा अब उदाहरण लीजिए—

"मेरी बनाई व अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापै। २३ सितंबर १८८२—हरिश्चन्द्र।[1]

इस वाक्य में 'पुस्तकों' के आगे कर्म का चिह्न 'को' विचारणीय है। 'पुस्तकों को स्वामी का कुल अधिकार है, यह वाक्य व्याकरण सिद्ध नहीं है।

इसी तरह और कई त्रुटियाँ द्विवेदी जी ने बतलाई हैं।

'धरती पर अनेक देश हैं और उन में मनुष्य बसते हैं। परन्तु सब देश के लोगों की एक सी बोली नहीं है।'[2] (राजा शिव प्रसाद)

'सब देश' की जगह 'सब देशों' क्या न हो? और—

आप जिस भाषा को स्वप्न में भी नहीं देखा उसमें दफ्तर।'[3] राधाचरण गोस्वामी।

यहाँ 'आप' के आगे एक 'ने' दरकार है। इसी तरह अन्य लेखकों की भाषा के नमूने दिए गए है। इस लेख से बाबू बालमुकुन्द गुप्त बहुत नाराज हुए और उनकी वैसी नाराजी का सब से बड़ा कारण यह है कि द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा पर विचार किया। उन्होंने बार-बार यह लिखा कि जिन भारतेन्दु की कृपा से हिन्दी इतनी बढ़ी, उनकी भाषा पर विचार करना द्विवेदी जी की अहम्मन्यता है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी को खूब भाड़-फटकार बताई और उनका खूब मजाक उड़ाया।

निःसन्देह भारतेन्दु की इज्जत द्विवेदी जी के मन में गुप्त जी से कम न थी। परन्तु गुप्त जी को यही बुरा लगा कि उनकी भाषा को चिन्त्य क्या समझा

---

१ आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास पृष्ठ ६०
२ आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास पृष्ठ ६१
३ वाग्विलास पृ० ६३

गया। श्रद्धातिरेक के कारण ऐसा हो जाता है। द्विवेदी जी न क्षमा प्राथना पहले ही कर ली थी पर उसका कोई असर न पडा। बहुत पहले भी ऐसे काण्ड हो चुके है। सस्कृत साहित्य म आचाय महिम का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्होने ध्वनिकार के सिद्धान्त (ध्वनिवाद) का खण्डन करके 'व्यक्ति विवेक' नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ मे उन सभी अर्थों को 'अनुमेय' बतलाया है, जिनके लिए लक्षणा-व्यजना नाम की शब्द शक्तिया 'ध्वन्यालोक' म बतलाई गई है। काव्य की आत्मा (रस) पर कोई विवाद नही, परन्तु उसकी ध्वन्यमानता महिम भट्ट का स्वीकार नही। यानी एक नया 'प्रस्थान'। परन्तु महिम भट्ट का लोगो ने खूब गालिया दी आजतक दे रहे हैं। ध्वनिकार का खण्डन किया ही क्यो ?

महिम भट्ट न साहित्यशास्त्र म एक नई चीज दी—काव्य दोष से बचने के लिए। आगे मम्मट विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों न काव्य दोष का प्रकरण अपने अपने ग्रन्थो म रखा और लक्षण उदाहरण भी महिम भट्ट के ही दिए हुए हैं। परन्तु कही किसी न महिम भट्ट का नाम नही लिया। गालिया सब न दी, यहा तक कि 'व्यक्ति विवेक' के कई टीकाकारो न भी गालियाँ दी कि इसने ध्वनिवाद का खण्डन किया ही क्यो ? आचाय द्विवेदी सौभाग्यशाली रहे कि उन्हे आगे फिर गालियाँ न मिली—पूरी इज्जत मिली।

द्विवेदी जी न उस लेख म यह भी लिखा था कि अग्रेजी अखबार तो खास इसी वजह स लिए जात है कि वह रियासत के खिलाफ न लिखे[1] म 'वह' की जगह 'वे' बहुवचन चाहिए।

बहुत बडा लेख है। इस लेख की प्रतिक्रिया सवथा अनुकूल हुई। केवल गुप्तजी बहुत नाराज हुए। उन्होंने इस पर जो कुछ लिखा, उसका भी नमूना लीजिए। 'भारत मित्र' म गुप्त जी ने द्विवेदी जी के उस लेख पर विचार करना इस तरह शुरू किया—

'जो लोग समझते थे कि हिन्दी भाषा एकदम लावारिस है कोई उसका मुरब्बी या सरपरस्त नही, वह यह खबर सुन कर खुश होगे कि वास्तव मे उक्त भाषा माता पिता विहीन नही है। गत नवबर मास की 'सरस्वती' देखने से विदित हुआ कि उक्त पत्रिका के सम्पादक प० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी भाषा के सरक्षक या वारिस, दो म से एक कुछ हुए हैं।

कहावत है कि बारह वर्ष के पीछे घरे के दिन भी फिरते हैं। उसके अनुसार अन्त को हिन्दी के दिन भी फिरे। बडे ही अच्छे अवसर पर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'

१ आचाय द्विवेदी—वाग्विलास, प० ६३

की उक्त सख्या म भाषा और व्याकरण लिग कर अपनी हिन्दी दानी के झड गाड दिए हैं। आपने साबित कर दिया है कि हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक जितने हिन्दी लिखने वाल हुए हैं, सब की हिन्दी अशुद्ध है। उन सब की इसलाह के लिए आप को स्वय खलीफा या पगबर बनना पडा है और सब को एक ही उल्टे उस्तरे स मूडना पडा है।[१]

नागजी का कारण है बाबू हरिश्चन्द्र के वाक्या का उद्धरण। गुप्त जी कहते हैं—

'द्विवेदी जी ने पहले ही हमल म हरिश्चन्द्र को वह धर कर पकडा है कि सब हिन्दी वाल ची बोल जावेंगे। आप जानते हैं कि हरिश्चन्द्र कौन ? जिस को इस समय के हिन्दी-लेखक वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता और पालनकर्ता मानत हैं। वही जिसकी रचनाओं को पढ कर 'हम पचन के ढाला मा बोलन वाले हिन्दी बोलने को चाच खोलन लग ह।[२]

द्विवेदी जी की जन्म भूमि और कार्य भूमि (रायबरेली, कानपुर) की भाषा का मज़ाक उडाया है— *हम पचन के ढाला मा लिख कर। द्विवदी जी कान्यकुब्ज* ब्राह्मण थे, इसलिय इस प्रकरण के अपने विभिन्न लखा म गुप्त जी न कान्यकुब्ज ब्राह्मणा को भी खब रगडा है। द्विवेदी जी अपनी निजी भाषा म निजी ढँग पर अंग्रेजी सस्कृत आदि की रचनाओं को हिन्दी म रखते थ और हिन्दी लखका की ढीली-ढाली रचनाओं को भी वे अपनी टकसाल म ढाल कर टकसाली रूप दे देत थ। मजाक उडाते हुए गुप्त जी कहते हैं—

हमारे द्विवेदी जी दूसरा के माल का उपयोग अपने तौर पर करना खूब जानते हैं। मैक्समूलर आदि के पन्ने से जो सस्कार आप के चित्त पर हुआ था उसे आप अपने तौर पर लिखने की बात फरवरी म कह चुके थे। माच मे फिर वही 'तौर चला। दो सज्जना ने आप के पास प्रताप चरित' लिख भेजा। आप ताक मे थे ही। आपने उस सामग्री का उपयोग 'अपने तौर पर' कर डाला। धीरे धीरे आप का तौर चगेज और तमूर का 'तौर हुआ जाता है।'[३]

कहते हैं कि आप के उक्त लेख से हिन्दी के कवि और सुलेखका की पसलियाँ फडक उठी। स्वग म प्रताप की आत्मा तडप गई। कलकत्ते म बनियों की गद्दी और *साहिबों के आफिस के कनौजिया लादा कह रहे हैं कि द्विवेदी जी ने प्रताप की जीवनी* लिख कर हमारी जाति का एक कलक धो बहाया।'[४]

१ बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली प्रथम भाग (भाषा की अनस्थिरता) पृ० ४३३
२ गुप्त निबन्धावली पृष्ठ ४३३
३ गुप्त निबन्धावली, आत्मारामीय टिप्पण 'अपने तौर पर", पृ० ४६३
४ गुप्त निबन्धावली, पृ० ४६३

गरीब ब्राह्मण कलकत्ते म सेठो के यहाँ या सरकारी दफ्तरो मे चपरासी आदि का काम करते थे, अब भी करते हैं। द्विवेदी जी की 'जाति के व हैं इसलिए उनका स्मरण ' कलक स मतलब है—शिक्षा हीनता के कारण चपरासी आदि बनना। गुप्त जी ने उस समय एक दजन लेख इसी प्रकरण म लिखे, जिनम इसी तरह की कटूक्तियाँ हैं। गुप्त जी बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा की आलोचना क कारण द्विवेदी जी से चिढ गए थे। 'गुप्त निबधावली' म गुप्त जी के कई निबधा से पता चलता है कि उन्होने द्विवेदी जी को कई बार लिखा था कि आप लाला सीताराम की आलोचना करना छोड कर अपनी स्वतत्र रचनाएँ करें। द्विवेदी जी ने उनकी बात न मानी थी। इस समय भारतेन्दु की आलोचना देख कर वे आपे से बाहर हो गए और समझा यह कि द्विवेदी जी वश्या के पीछे पड गए हैं। उसी का फल कनौजिया ब्राह्मणो को मिला।

वैसे गुप्त जी बडे विचारवान तथा ऊँचे दर्जे के विचारक थे। परन्तु न जाने क्या उनक मन म वह सब आ गया। द्विवेदी जी ने प० राधाचरण गोस्वामी आदि क भी वाक्य उद्धत किए हैं। उद्धरण देने क लिये क्षमा भी मागी है और यह भी लिख दिया है कि 'हम भी व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं। यह असावधानी दूर हो, इतना ही प्रयोजन था।'

रही बात भारतेन्दु के वाक्या पर विचार करने की सो किसी भी तरह अनुचित नही। कालिदास वश्य न थे। द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरकुशता' भी लिखी है। 'नषध-महाकाव्य' किसी वश्य का लिखा नही, परन्तु द्विवेदी जी न उस की भी आलोचना की है।

'सुदशन' के सम्पादक प० माधव प्रसाद मिश्र की भी आलोचना द्विवेदी जी ने की थी और पक्के कनौजिया प० श्याम बिहारी मिश्र से भी उन्होंने सरस्वती की सेवा करते समय अनबन की।

भाषा सबधी गलतियाँ या साहित्यिक ह्रास दिखाने के लिए बडे पूवजो के ही उदाहरण दिए जाते हैं। साधारण लोगो की कोई बात ही नहीं। 'ध्वनि विवेक' 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दपण' आदि म काव्य दोष दिखाने के लिए कालिदास भारवि, माघ, भवभूति आदि सवश्रेष्ठ महाकवियो की रचनाओ से ही उदाहरण दिए गये हैं। और ऐसा करते हुए किसी के भी मन म उन महाकवियो क प्रति हीन भावना नही आई। न उन ग्रन्थो के पढ़ने वाला के ही मन म वैसी कोई बात आती है। वक्रोक्ति जीवित म तो केवल कालिदास के ही पद्य बारीक विवेचन म लिए गए हैं और लिखा है कि एस बारीक विवेचन के लिए ऐसे महाकवि की रचना ही उपादेय है—कच्चा कवियो का ऐसी जगह लेना बकार है। तो भी किसी कालिदास भक्त न बुरा न माना। आचाय महिम भट्ट को गालियाँ केवल इसलिये मिली कि उन्होने ध्वनिकार का खण्डन

किया—ध्वनिवाद का निराकरण किया। एक रूढ़ि को उखाड़ना फजीहत मोल लेना है। परन्तु द्विवेदी जी ने तो ऐसे किसी 'सिद्धान्त' का खण्डन नहीं किया।

खैर गुप्त जी की नाराजी का उल्लेख भर करना था। अब गुप्त जी का मत भाषा के सबन्ध में भी देख लेना चाहिए। वे भाषा की प्रकृति पहचानते थे, यह हम पीछे बता चुके हैं—हिन्दी में बिन्दी की चर्चा करते हुए। द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख में दिए हुए दोषों का उद्धार गुप्त जी ने किस तरह किया है उसका भी एक नमूना लीजिये—

कोई भी

कुछ इबारत द्विवेदी जी ने गोस्वामी राधाचरण जी के भारतेन्दु' से पकड़ी है। इसमें एक शब्द आप ने ऐसा तलाश किया है कि आप की तलाश की प्रशसा किये बिना रहा नहीं जाता है। आप उस शब्द के विषय में रायजनी करते हैं— ऊपर के अवतरण में जो शब्द मोटे अक्षरों में छपा है—वह अत्यन्त ग्राम्य है। कोई भी (बाहरी भी) सम्पादक किसी सभ्यजन के सामने अपने मुह से बसा शब्द न निकालेगा।[1]

यहा कोई भी' पर गुप्त जी ने ऐतराज प्रकट किया है कोष्ठक में बाहरी भी लिख कर। गुप्त जी का खयाल था कि कोई में भी उसी तरह है जसे ब्रजभाषा के कोऊ में' सोऊ' में 'हू। सोऊ न मान्यो वह भी न माना। उन्होंने समझा होगा, कोऊ' में हू' है ही और उसी का रूपान्तर हिन्दी में 'कोई' है तब 'कोई' में भी आ ही गया।

परन्तु जसा कि आचार्य वाजपेयी ने विश्लेषण किया है, 'सोऊ' और कोऊ' के ऊ' भिन्न २ हैं। कोऊ आयो है का 'अर्थ है कोई आया है। यानी अनिश्चयात्मक 'ऊ' है। परन्तु 'सोऊ जायगो' का अर्थ है—वह भी जाएगा। यानी सोऊ' में 'ऊ अवधारणात्मक है। 'कोई न जायगा' साधारण वाक्य है। जोर देने के लिए कोई भी न जाएगा कहा जाएगा। परन्तु ब्रजभाषा कोऊ हू न जायगो नहीं चलता। ऊ के बाद हू उखड़ा सा लगता है। ऊ में ही 'हू का आगम करके 'हू' अव्यय ब्रजभाषा में है। हिन्दी में भी है। संस्कृत में 'अपि' अव्यय इस अर्थ में चलता है। सोऽपि रामोऽपि त्वमपि वह भी राम भी तू भी। परन्तु कोऽपि अनिश्चयार्थक है— कोई'। 'सोऽपि और कोऽपि में आकाश पाताल का अन्तर है। केवल 'किम् सर्वनाम में 'अपि' लगा कर अनिश्चय प्रकट करता है। कः गमिष्यति कौन जाएगा ? प्रश्न है। कोऽपि गमिष्यति, कोई जाएगा। अनिश्चय है। इसी कोऽपि का रूपान्तर हिन्दी कोई है। कोऽपि7 कोइ7 कोई। ब्रजभाषा में 'कोऊ हो गया—'ई का ऊ रूप।

सोऽपि का ब्रजभाषा में (सोऽपि7 सोइ7 सोई) सोऊ रूप। 'सोऽपि' 'सोऊ'—

---

[1] गुप्त निबन्धावली, पृ० ४६५

वह भी। यानी समुच्चय है। 'राम भी जायगा' हिन्दी म, 'राम हू जायगो' व्रजभाषा मे। 'हू' का आगम। पाञ्चाली म सधि हो जाती है—रामौ कहति रहै—राम भी कहता था। 'तुम हू तौ कहत रहौ'। पाञ्चाली म भी 'हू' का आगम है। हिन्दी मे तुम भी तो कह रहे थे। यानी हिन्दी मे समुच्चय या अवधारण 'भी' से होता है। यह 'भी' भी उसी अपि का रूपान्तर है। 'रामोऽपि' का प्राकृत रूप—रामो वि'। 'वि' का बी रूप कुरुजनपद मे—राम बी आएगा,। वही 'बी' साहित्यिक भाषा (उर्दू हिन्दी) मे 'भी' है—राम भी जाएगा। 'ब' को 'भ' रूप मिल ही जाता है। सस्कृत 'बुस' का हिन्दी रूप 'भुस' है और उसकी स्त्रीवर्गीय हलका रूप 'भूसी'। कमल नाल को सस्कृत म 'बिस' कहते हैं, जो कुरुजनपद म तथा पजाब म भिस है।

सो, कोई भी गुप्त जी से जिस जगह सहमत न होगा, यहाँ 'भी' बहुत चुस्त प्रयोग है।

जिस शब्द को द्विवेदी जी न ग्राम्य कह कर लिखा है कि साहित्य म ऐसे शब्दो का प्रयोग न होना चाहिए उसका निर्देश करना ही होगा। परन्तु साहित्य मे सब नही दिए जा सकते। गोस्वामी जी ने 'चूतियापथी' शब्द का प्रयोग किया था। भारतेन्दु मे—'यह चूतियापथी नही कि आप जिस भाषा को स्वप्न म भी नही देखा, उस मे दफ्तर हो।"[१]

वाक्य चाहिए था—क्या यह मूर्खता नही कि आपने जिस भाषा को स्वप्न मे भी नही देखा, उस मे दफ्तर हो।

साहित्य शास्त्र म 'काव्य-दोष' प्रकरण देखिए। उसमे दोषा के उदाहरण देकर समझाया गया है कि ऐसे प्रयोग न करने चाहिए। गोस्वामी जी बहुत प्रतिष्ठित लेखक थे। आगे चल कर वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी हुए। उनके प्रयोग को प्रमाण मान कर लोग उस शब्द का ही नही वसे और फूहड शब्दा का प्रयोग करते। द्विवेदी जी ने ऐसी बातो पर बहुत ध्यान रखा और प्रशस्त माग बना दिया।[२]

वह और वे

गोस्वामी जी की इबारत म ही वह शब्द बहुवचन म आया है। और लेखक भी ऐसा ही करते थे। स्वय गुप्त जी भी 'वह आया' और वह आये यो एकवचन और बहुवचन दोना जगह वह लिखते थे। द्विवेदी जी ने टोका और कहा—हम दखते हैं कि लोग 'वह' शब्द को बहुवचन मे भी लिखते है और एकवचन मे भी। यदि अधिक लेखको को वे की जगह भी वह' ही लिखना अच्छा लगता हो तो वही सही। इस

१ आचाय द्विवेदी—वाग्विलास पृ० ९३

२ आचाय किशोरीदास वाजपेयी—राष्ट्रभाषा का इतिहास, पृ० २०५

दशा में व्याकरण बनाने वालों को चाहिए कि वे 'वह' को एकवचन और बहुवचन दोनों में रखें।"[1]

इस पर गुप्त जी कहते हैं—

'बिपद तो यह है कि द्विवेदी जी न भाषा जानते हैं, न व्याकरण और टाँग अड़ाते हैं दोनों में। जब आप को किसी देश की बोली की ही खबर नहीं है तो उसके व्याकरण के सुधार के लिए क्यों दौड़ते हैं? वह और वे की बहस से व्याकरण भरे पड़े हैं। सुनिये—दिल्ली आगरा और तीनों प्रान्तों के लोग 'वह' और 'यह' को एकवचन और बहुवचन दोनों में बोलते हैं। बहुत चेष्टा हुई कि बहुवचन में 'वह' को 'वे' या 'वो' बना दिया जाय और 'यह' को 'ये'। पर 'वे' को तो लोगों ने निरा गँवारी समझा और 'वो' और 'ये' चले नहीं। उक्त तीनों प्रान्तों में 'वे' किसी के मुँह से नहीं निकलता। कोई अनपढ़ गँवार बोल उठे तो उसकी बात को मानता ही कौन है? व्याकरणों में साफ लिखा है कि 'वह' एकवचन और बहुवचन दोनों है और 'वे' गैर फसीह है। गोस्वामी राधाचरण आगरा प्रान्त के हैं, हिन्दी के देश के हैं, वह 'वे' क्यों लिखने लगे?'[2]

द्विवेदी जी बहुवचन में 'वे' चलाना चाहते थे जो चला भी, परन्तु उसके लिए कोई झगड़ा नहीं खड़ा किया। 'वह' बहुवचन में भी तो लिखते थे, उन्हें गँवार नहीं कहा, अनपढ़ नहीं कहा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि यदि अधिकांश लेखक बहुवचन में भी 'यह' 'वह' रूप ही पसन्द करें तो व्याकरणों में वैसा लिख दिया जाय। परन्तु गुप्त जी तो चिढ़ ही गये थे। यह ध्यान रखने की बात है कि गुप्त जी पहले द्विवेदी जी को पूज्यवर समझते थे और 'प्रणाम' करते थे। तारीख २५ फरवरी सन् १६०० को एक लम्बा पत्र गुप्त जी ने कलकत्ते (भारत मित्र-कार्यालय) से द्विवेदी जी के नाम झाँसी भेजा था—

पूज्यवर प्रणाम।

आज आप से कई तरह की बातें निवेदन करता हूँ। आप का उत्तर इस बार छप ही गया है। २० के पत्र में आपने मुझे क्षमा दी, उसका धन्यवाद।[3]

उस समय 'बातें निवेदन करता है' जैसे प्रयोग हो जाते थे। आजकल 'बातें निवेदन करनी हैं' *अभी रोटी खानी है* *कुछ लेख लिखने हैं* जैसे प्रयोग होते हैं। क्षमा दी उर्दू के माफी दी का रूपान्तर है। इस पत्र में जिन्हें पूज्यवर कहा है उन्हें ही पाँच वर्ष बाद गँवार समझा।

---

१ गुप्त निबन्धावली भाषा की अनस्थिरता पृ० ४६५

२ गुप्त निबन्धावली पृष्ठ ४६५-४६६

३ बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ १२६

आजकल बहुवचन में 'वे' रूप ही ग्राह्य है। उर्दू वाले 'वह वह रहे थे' जरूर बोलते हैं। परन्तु 'वे' का प्रयोग करने वाले गँवार नहीं समझे जाते। 'वो' उर्दू वाले कभी-कभी बोलते हैं। यह 'वे' का ही रूपान्तर है—'ए' की जगह 'ओ'। इस प्रकरण में और अधिक लिखना ठीक नहीं। हम लोगों के लिए आदरणीय गुप्त जी ने बहुत कुछ दिया है। परन्तु प्रसंग प्राप्त चर्चा है कि द्विवेदी जी के उस लेख से कैसा कुहराम मचा था। वह झंझावात निकल गया और हिंदी महीधर पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा—'न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।'[1]

'पुस्तक' बहुवचन में भी

द्विवेदी जी ने उसी लेख में लिखा था कि एकवचन बहुवचन का ध्यान न रख कर लोग 'जिन को ये दोनों पुस्तक लेनी हों' जैसे प्रयोग कर देते हैं।

इस के उत्तर में यह कहा जा सकता था कि असावधानी से ऐसे प्रयोग हो जाते हैं या छपने में गलती हो जाती है। परन्तु गुप्त जी कहते हैं—

'एक विशेष प्रकार के जल पक्षी की भांति द्विवेदी जी को किनारे के कीचड़ में ही सब मिल जाता है। इसी से अगाध जल तक कष्ट करने की आवश्यकता आप को नहीं पड़ती। आप यथा सम्भव हिन्दी लेखकों की भूलें इधर उधर के विज्ञापन आदि से चुनते हैं, उनकी बनाई पुस्तकों पर कम हाथ डालते हैं। जिस प्रकार हरिश्चन्द्र की भूल एक सड़ियल विज्ञापन में न्टोनी वैसे ही काशीनाथ जी खत्री की त्रुटि किसी आलोचना या सूचना से निकली है। सुनिये—'यह एवं पुस्तक नागरी में है। जिनको ये दोनों पुस्तक लेनी हों, शाहजहाँपुर से मंगा लें। तृतीय भाग में निषेधकों के आपत्तियों और कल्पनाओं के विधि-पूर्वक उत्तर हैं।'[2]

खत्री जी ने बहुवचन में यह नहीं 'ये' लिखा है। गुप्त जी ने 'वे' को तो गंवारी बताया पर 'ये' के लिए कुछ न कहा।

गुप्त जी फिर 'पुस्तक' 'पुस्तकें' पर लिखते हैं—

'द्विवेदी जी इस पर यों एतराज फरमाते हैं—'दोनों पुस्तक' की जगह 'दोनों पुस्तकें' क्या न हो? 'आपत्ति' और 'कल्पना' स्त्रीलिंग शब्द हैं। अतएव उनके संबंध के सूचक 'के' की जगह स्त्रीलिंग 'की' होना चाहिये।' द्विवेदी जी को तो इस बात का मगज नहीं है कि बीस साल पहले जो हिंदी बोली जाती थी, अब उसमें कुछ अन्तर हो गया है। उस समय लोग इसी तरह ('दोनों पुस्तक') लिखते थे 'दोनों पुस्तकें' नहीं। इसे भूल कहना निरा बेमगजापन है।"[3]

---

१ महाकवि कालिदास—रघुवंशम्
२ गुप्त निबंधावली, पृष्ठ ४६६
३ गुप्त निबंधावली, पृष्ठ ४६७

बीस साल किसी भाषा के जीवन म होते क्या हैं ? अब से सत्तर वर्ष पहले की हिंदी मे और आज की हिंदी मे क्या अतर आ गया ? काशीनाथ खत्री आचाय द्विवेदी के समकालीन लेखको मे हैं।

उस समय के लेखक भी 'पुस्तकें बहुवचन लिखते थे। उर्द वाले भी, उस समय भी 'मेरी चारो किताब' लिखते बोलते थे चारो किताब' नही। परन्तु 'चारो किताबें' लिखने वालो को गुप्त जी ने तरजीह दी है चारो किताब ले आओ को वे बेमगजापन समझते थे।

हमारा ख़याल है इस प्रकरण को और बढाना ठीक नही। गुप्त जी ने अत्य धिक विस्तार से इसी तरह आचाय द्विवेदी के उस लेख की आलोचना की थी। वह सब 'बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली' म देखा जा सकता है।

प० गगाप्रसाद अग्निहोत्री उस समय के प्रसिद्ध लेखक और वय्याकरण थे। उन्होंने द्विवेदी जी को लिखा 'नवबर की 'सरस्वती' मे व्याकरण विषयक आपका लेख बहुत अच्छा निकला।'

बाबू काशी प्रसाद जायसवाल हिन्दी के इतने समथ और सुलझे हुए लेखक थे कि महापण्डित राहुल साकृत्यायन उन्हे अपना 'साहित्यिक गुरु मानते थे और जायसवाल ऐसे रत्न पारखी तथा उदार थे कि आगे चल कर उन्होंने राहुल जी को महापण्डित' स्वीकार किया। जायसवाल जी ने जिसे महापण्डित कहा उसे कौन वसा न समझना ? तब से राहुल बाबा हिन्दी मे महापण्डित राहुल साकृत्यायन प्रसिद्ध हुए। जायसवाल जी ने लिखा था— भाषा और व्याकरण लख बहुत ही अच्छा है। आज हमने उसे पढा। हिन्दी के सवश्रेष्ठ लेखक को जसा लिखना चाहिए था आप ने वसा ही लिखा है।

प० पदमसिंह शर्मा हिन्दी सस्कृत, उर्दू और फारसी के माने हुए विद्वान् थे और ब्रजभाषा के तो अद्वितीय ममज्ञ थे। उन्होने लिखा— भाषा और व्याकरण को मैंने कई बार पढा ध्यान से पढा। मैंने उसकी प्रत्येक बात अपने मत के अनुकूल पाई—'देखना तकरीर की लज्जत कि जो उसने कहा मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल म है।' इसी तरह श्रीधर पाठक आदि दिग्गज विद्वानो के पत्र द्विवेदी जी के पास पहुचे थे। यानी व्यापक अनुकूल और क्वचित प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई।

द्विवेदी जी का दूसरा लेख

नवबर की सरस्वती म 'भाषा और व्याकरण लेख छपा। दिसबर और जनवरी म उस पर चर्चाएँ हुई और फरवरी म आचाय द्विवेदी ने उसी विषय पर

एक दूसरा लेख—बहुत लम्बा लेख लिखा। इस लेख मे भाषा भाषा विज्ञान, व्याकरण और भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति आदि पर अपने विचार प्रकट करने के बाद उन विप्रतिपत्तियो के उचित उत्तर दिए है जो उत्तर देने योग्य उन्हे मालूम हुई। उनके इस लेख के आवश्यक अश यहा दिए जाएँगे जिससे वस्तुस्थिति और स्पष्ट हो जाए। इसी सदर्भ से उनके कई नए विचार भी सामने आ जाएँगे, जो प्रथम लेख मे न थे। इसी से यह भी पता चल जाएगा कि १९०५ ई० मे उनकी भाषा कैसी थी और शैली (प्रत्याख्यान विषयक) कैसी वे रखते थे।

गुप्त जी को लक्ष्य करके आचार्य द्विवेदी कहते हैं—

'आप की राय मे हमारा लेख बिलकुल ही कूडा-करकट है। एक भी जुमला उसका सही नही एक भी सिद्धान्त उसका सग्राह्य नही, एक भी बात उसकी पूर्वापर-सबद्ध नही। कि बहुना न हम बामुहावरा भाषा लिखना आता है, न हम कर्ता कर्म, क्रिया आदि को यथास्थान रखना ही आता है। खैर इतनी ही हुई कि समालोचना-समर के ऐसे नेपोलियन समालोचको के गुरुदेव ने हमारे लेख को वैसा नही समझा।'[१]

'गुरुदेव' से मतलब है—प० श्रीधर पाठक से।

बडी खुशी की बात है कि व्याकरण के नियमो के खिलाफ हमारे दिग्विजयी जुबाँदानो के हजार सिर पटकने पर भी हिन्दी के लेखको का ध्यान उन के पालन की तरफ आकृष्ट हो रहा है। उदाहरण—

१—वे दूसरे के लिए उपदेशक कब होंगे।

२—जो काम काज न पाकर मूड मुडा लेते हैं, वे उस काम से बाज आवेगे।

३—जो लोग पढे लिखे हैं वे किया ही करते हैं।

'भारत जीवन' ११,१२,१९०५

४—वे अगर बगाली भाषा के अक्षर से मिलते-जुलते हैं।

५—ये रानियाँ बहुत सी पुस्तको को लायी थी।[२]

हिन्दोस्थान २९,१२,१९०५

इसी तरह श्री वेंकटेश्वर समाचार, समालोचक' तथा नवीन भारत के उद्धरण देकर द्विवेदी जी ने बतलाया है कि लोग बहुवचन म 'वे' लिखने लगे हैं, जिसे गुप्त जी गवारी प्रयोग कहते हैं।

इसके बाद वे इस गँवारी प्रयोग के दायरे मे बाबू हरिश्चन्द्र को भी लाए हैं। लिखा है—हरिश्चन्द्र ने भी अपनी पुस्तको मे ये और वे का प्रयोग किया है और

१ वाग्विलास, पृ० ११०
२ वाग्विलास, पृष्ठ १२९

कहीं कहीं बहुलता से किया है। मतलब द्विवेदी जी का यह था कि बहुवचन में 'वह' का प्रयोग चिंत्य है।[1] उस समय 'वह' भी चल रहा था। वहां 'वे' तथा 'ये' नहीं चलते थे।

लेख में तब तो का उल्लेख करके आगे द्विवेदी जी ने लिखा है—

"एक लेखक लिखता है जिनने उनने 'इनने', दूसरा लिखता है जिन्होंने 'उन्होंने' इन्होंने। एक लिखता है वह ही दूसरा लिखता है 'वही और वो ही'। एक लिखता है 'वे जांय' दूसरा लिखता है वे जायें। जो लेखक एक जगह लिखता है—वह काम इस तरह हो वही जरा दूर आगे चल कर लिखता है वह काम इस तरह होवे। यदि इस तरह के प्रयोग सर्वसम्मति से उभयगुली (वैकल्पिक) मान लिए जायें तो कुछ बात ही नहीं, अन्यथा इनमें से एक प्रकार छोड़ देना चाहिए।[2]

यानी असावधानी से भाषा गलत न की जाए। उर्दू में वह बहुवचन में भी चलता है तो चलता रहे। उर्दू में तो चर्चा चलता है परन्तु हिंदी में ऐसे प्रयोग की चर्चा कभी नहीं चली। इसी को ध्यान में रख कर द्विवेदी जी ने लिखा है—

'उर्दू के दोष नकल करना मुनासिब नहीं। हिन्दी भाषा (हिंदी साहित्य) अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। इससे अभी उसके ऐसे ऐसे दोष दूर हो सकते हैं। किसी (लेखक) का नाम लेकर दूषित भाषा के नमूने दिखलाना मानो अपने ऊपर आफत लेना है क्योंकि कोई भी लेखक अपनी सर्वज्ञता से एक इंच भी हटना नहीं चाहता इसलिए हम नाम दिए बिना ही इस तरह के नमूने सिर्फ इस मतलब से देते हैं जिससे उनकी तरफ पढ़ने वालों का ध्यान आकृष्ट हो। एक अच्छे उर्दूदां अपनी एक हिंदी किताब में लिखते हैं—

यह मेरे पुत्र से उन्मा सबन्ध कर लिए हैं।

इसमें 'यह' कर लिए हैं विचारणीय है। इसी तरह उन्होंने दवन्दा के नाम ऐसा पत्र लिख होंगे भी मान को खटकता है।

एक पण्डित जी साहब कहते हैं—

१—अपने ग्रन्थ में मर हैनरी कटन ने जो कुछ भारतवर्ष का इकानामिक प्रान्तम पर लिखा है।

२—मेरे याद ज्योतिष भूपति गण।

३—अगानी के गवेषणा के परिश्रम का मैं अपार ऋणी हूँ।

---

१ वाग्विलास, पृष्ठ १२७

२ वाग्विलास पृष्ठ १२८

४—जितना (चरित्र) एक का सच्चे झूठे रीति से प्रकट हुआ था।[1]

इन उदाहरणों की आलोचना करना अनावश्यक है। एक बहुत प्रसिद्ध लेखक के चरित प्रणेता ने अपने एक ग्रंथ मे इस प्रकार के वाक्य लिखे हैं—

१—परन्तु वह रिपोर्ट हमको देखने मे नही आई।
२—हमको वह फर्मा देखने म नही आया।[2]
३—उनका रचा हुआ कई एक ग्रंथ पढने का सयोग पडा है।
४—बाबू साहब ने कई एक दोहा बना दिये थे।
५—भारतवासियो ने पश्चिमीय देश से वर्णमाला लाया और लिखना सीखा।
६—जितनी वर्णमाला का हाल ज्ञात हुआ है।
७—विशाल देव का पुत्र सारग देव ने लिया।
८—इस पर घन-पटल छाये हुआ है।
६— पुर के इसी यात्रा मे ।
१०—वह हम को वही देखने म नही आई।
११—इन के पास लिखने की सामग्री न रक्खी रही करती हो। ये उदाहरण एक नई किताब से हमने चुने हैं।'[3]

आचार्य द्विवेदी ने 'नई किताब' से इसलिए ये उदाहरण चुन कि कोई यह न कह दे—चार वर्ष पहले ऐसे प्रयोग शुद्ध समझे जाते थे।

आगे द्विवेदी जी कहते हैं—

"यदि ये वाक्य शुद्ध हैं तब तो कोई बात ही नहा, परन्तु यदि शुद्ध नहीं हैं, तो लेखको का ध्यान ऐसे वाक्यो की तरफ आकृष्ट करना चाहिए। अन्यथा और लोग भी ऐसा ही लिखने लगें, तो कोई आश्चर्य नही।"

ये उदाहरण हमने सिर्फ हिन्दी की वर्तमान अवस्था दिखलाने के लिए दिये हैं किसी के दोष दिखाने के इरादे से नही। यह हम सच्चे दिल से कहते हैं। इससे, आशा है, वे लेखक, जिनके ये वाक्य हैं, उदारतापूर्वक हमे क्षमा करेंगे। व्याकरण और अलकार आदि के प्रबधो मे गुण दोष दिखलाने या अपनी बात पुष्ट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थकारो के उदाहरण दिए बिना काम नही चल सकता, क्योकि सामान्य ग्रन्थकारो की भाषा के उदाहरणो की कीमत ही कितनी? परन्तु यदि लेखको और समालोचको को यह बहुत ही नागवार हो तो कल्पित उदाहरण देने ही

१ वाग्विलास, पृ० १२६
२ वाग्विलास, पृ० १२६
३ वाग्विलास, पृ० १३०

का नियम करना होगा। पर कल्पित उदाहरण भी क्या कोई चीज है ? सच तो यह है कि गलती कौन नहीं करता ? भाषा की अपरत दशा म यह बात और भी अधिक सभव है।

हमने अपने पहले लेख म लिखा है कि विदेशी शब्दो म 'णत्व' विचार की जरूरत नही। पर जब हम इडियन प्रस लिखने लगते हैं तब उस बात को बहुधा भूल जाते हैं और डि के साथ ण लिख जाते है—(इण्डियन प्रस)। यह पूर्व अभ्यास का फल है।"[1]

यहाँ जो बात ण के सम्बन्ध म आचार्य द्विवेदी ने कही है, वही ञ तथा 'ङ' के सम्बन्ध म भी समझनी चाहिए। ण ङ और ञ केवल संस्कृत शब्दो म चलते हैं। सस्कृत शब्द तत्सम रूप म भी हिन्दी ग्रहण करती है—'अण्डज', 'कङ्कण' और 'चञ्चरीक' आदि पर तद्भव रूप म अधिक चलन है—'कंगन' 'चचरीक' और 'अडज' आदि। तुलसीदास आदि ने ण ङ ञ का प्रयोग लोक भाषा म नही किया है। अनुस्वार का चलन है। परन्तु न और म हिन्दी म हैं, इसलिए 'कन्त' 'सन्त' हिन्दी' 'पम्प' 'चम्पा' आदि रूप गृहीत हैं। आगे इस विषय पर विस्तार से विचार मिलेगा। सो विदेशी शब्दो म ही नही अपने टडन डडा, कडा लगूर, कथा तथा तजौर, भजदेव आदि शब्दो म भी पर सवर्ण के रूप मे 'टण्डन, डण्डा, लङ्गूर, तञ्जौर' आदि लिखना ठीक नही। द्विवेदी जी सस्कृत भाषा के भी विद्वान थे इसीलिए 'इडियन प्रेस' को 'इण्डियन प्रेस' लिख जाते थे, यद्यपि सिद्धान्त उनका दूसरा था। कलकत्ते मे तो पर सवर्ण ही नही सस्कृत के 'ष्टुना ष्टु' सूत्र-संधि भी चलती थी और 'ष्टेशन माष्टर' जैसे रूप चलते थे। आगे हिन्दी की प्रवृत्ति सामने आई—'स्टेशन मास्टर', परन्तु पर-सवर्ण अभी तक चल रहा है—काशी के 'आज' मे। वह भी ठीक हो जाएगा। भारत है सब कुछ धीरे धीरे ही होता है।

आगे बहुत दूर तक द्विवेदी जी ने इस लेख मे गुप्त जी के आक्षेपो का निराकरण करते हुए उनकी भाषा के चिन्त्य उदाहरण "चौरे" दिए हैं, उनका साफ नाम लिए बिना ही।

इसके बाद द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जिक्र किया है—

'हमने हरिश्चन्द्र के एक सिर्फ एक वाक्य की समालोचना कर दी। यह हमसे घोर पातक हो गया। स्मृतियो म सकडो तरह के पातक, उपपातक और महापातक गिनाए गये हैं और प्रायश्चित्तो का विधान भी उनमे है पर हमारे इस घोर पातक का कोई प्रायश्चित्त नहा उसका कोई इलाज नही उसकी कोई दवा नही। भगवान्

१ आचार्य द्विवेदी वाग्विलास, पृष्ठ १३० १३१

बड़ा दयालु है, पर उसकी शरण जाने से भी शायद हमारा निस्तार न हो। सुनते हैं, हरिश्चन्द्र बड़े उदार, बड़े दानी, बड़े क्षमाशील और बड़े दयालु थे। इससे अब हम उन्हीं को पुकारते हैं—हे हरिश्चन्द्र, क्वासि? हे गोलोकवासिन, पाहि माम। हे कवि कुल-कल्पवृक्ष रक्ष। हे निःशेष लेखक पथ प्रदर्शक, भवतव प्रदर्शिते पथि स्खलित मां करावलम्बन देहि। आपने 'नाटक' नाम की अपनी किताब में लिखा है—'एक तो मनुष्य-बुद्धि ही भ्रमात्मिका है दूसरे मेरी रुग्णावस्था में यह विषय लिखा गया है इससे बहुत सी अशुद्धियाँ सम्भव हैं।' यह देख कर हम ने समझा था कि मनुष्य से भ्रम होना सम्भव है। परन्तु 'वञ्चितोऽस्मि त्वया क्व'। अब आप ही कृपा करें, तो हमारा उद्धार हो। या तो आप इस जुर्म को अपनी किताब से दूर कराइए, या हम कृतापराध की माफी दिलवा कर इस बात की भी इजाजत दिलवा दीजिए कि जरूरत पड़ने पर हम आपकी किताबों की समालोचना कर सकें।[1]

इसके अनन्तर द्विवेदी जी अपने पूर्व लेख का स्मरण करके कहते हैं—

'हमने बाबू साहब के वाक्य की समालोचना करके वहीं पर यह भी लिख दिया था—सम्भव है छापेखाने वालों की असावधानी से ये त्रुटियाँ रह गई हों। परन्तु न! हम कुछ भी क्यों न लिखें, हमने समालोचना की क्यों? स्वर्गीय भारतेन्दु जी की हिन्दी की समालोचना! महाकवि प्रतापनारायण ने जिसे अपना गुरू माना और महाविद्वान राजा शिवप्रसाद ने जिस हिन्दी की दीक्षा दी, उसकी इबारत की समालोचना! अक्षम्य!

बाल्मीकि के 'सलिला वानरेन्द्रेण' की समालोचना हो सकती है वह क्षम्य है। भारवि के 'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने' की हो सकती है वह भी क्षम्य है। माघ के 'आविरच-क्षुषोऽभवत' की हो सकती है, वह भी क्षम्य है पर बाबू हरिश्चन्द्र की हिन्दी की नहीं। वह (उनकी हिन्दी) समालोचना प्रूफ है। उस पर समालोचना को रोकने वाला कवच चढ़ा हुआ है। बाबू साहब खुद ही कबूल कर लें कि उनसे गलती हो सकती है, तो भी कोई उनके लेख की समालोचना न करे। हमें तो उसके विषय में मुँह से चकार तक निकालना मना है, क्योंकि हम देहाती हैं। न हम किसी शहर के हैं न हम बाबू साहब के सजातीय हैं। फिर हम समालोचना का क्या अधिकार? हाँ अगर हम हरियाने (कुरुजाङ्गल) के देहाती होते तो बात दूसरी थी। और लोग उनके कवि वचन सुधा (मासिक पत्र) की समालोचना कर सकते हैं उनकी इबारत में ढीलापन बतला सकते हैं। उनकी खता माफ है, पर हमारी नहीं। हम कौन होते हैं?

न हम पंजाब के देहाती हैं और न महा महा देहाती होकर नागरिक बनने

१ आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृ० १४४ १४५

का दावा ही रखते हैं। फिर हम आलोचना कर कैसे सकते हैं? बाबू साहब ने अपने 'काश्मीर-कुसुम' में लिखा है—

१ 'कवियों ने अपने अन्नदाता के वश की तो झूठी कहानी जोड़ली और जो उनके शत्रु थे उनकी सब कीर्ति लोप कर दी।

२ (कल्हण) कवि के स्वभाव का जहाँ तक परिचय मिलता है ऐसा जान पड़ता है कि वह उद्धत और अभिमानी था।'[१]

बाबू साहब तो पुराने कवियों को झूठा उद्धत और अभिमानी कह दें और अपने प्रहसनों में किसी को न छोड़ें पर लाइसेंस होल्डर के लिखा उनके एक "" तक की कोई समालोचना न करने पावे। क्या? समालोचकों के हाईकोर्ट का 'रूलिंग' ही ऐसा है।

राजा शिवप्रसाद बाबू काशीनाथ आदि लेखकों के लेखों की समालोचना का भी हम अधिकार नहीं।[२]

एक लखनऊ और एक लक्ष्मणगढ़ के पंडित महाशय बाबू हरिश्चन्द्र की किताबों की समालोचना के बहुत ही खिलाफ हैं। उनसे हमारी प्रार्थना है कि आप चाहे जितना खिलाफ हों पर हरिश्चन्द्र यदि होते तो वे जरा भी मुखालिफत न करते। क्यों उन्होंने खुद औरों की समालोचना की है समालोचना का मार्ग उन्होंने ही हिन्दी में निकाला है।[३]

समालोचना सरोवर के हंस ने हमारी तुलना एक विशेष प्रकार के जलपक्षी से की है। इस दफे हम इधर उधर के विज्ञापन आदि से कुछ न चुन कर हरिश्चन्द्र के मुद्राराक्षस नाटक की इबारत में अनस्थिरता दिखलाने की कोशिश करते हैं। 'मुद्राराक्षस' की जो कापी हमारे पास है वह सन १८८८ की छपी है। उससे चुने हुए नीचे के उदाहरणों से हमारा यह मतलब नहीं कि बाबू हरिश्चन्द्र को हिन्दी लिखना न आता था या वे व्याकरण न जानते थे या वे संस्कृत से अनभिज्ञ थे। जो कुछ उनकी किताब में है हम उसी की समालोचना करते हैं। उसके आगे हम और कुछ नहीं कहते—

(१) एक दिन शिकार खेलने में गया मैं राजा ने अपना पाँचों उँगली की परछाई वररुचि को दिखलाया।[४]

२—वररुचि ने अपनी दो उंगलियों की परछाई ऊपर से दिखाई।"

---

१ वाग्विलास पृ० १४६ १४७
२ वाग्विलास पृ० १४७
३ वाग्विलास पृ० १४८
४ वाग्विलास पृ० १५०-१५१

ये वाक्य 'पूव कथा' के आठवें पष्ठ मे पास ही पास है। पहले म पाच के लिए भी 'उँगली' श द एकवचनम ही रखा गया है। अब यदि कोई कहे कि उस समय वसी ही चाल थी, तो अनुपद ही दो के लिए बहुवचन 'उगलिया की प्रयोग किया गया है। इसी तरह पहल उदाहरण म 'परछाइ' के साथ 'दिखलाया' क्रिया पुल्लिग है पर दूसरे उदाहरण म उसी के साथ दिखलाई स्त्रीलिंग।

(३) इस बात पर राजा न वररुचि की बडी स्तुति किया। पष्ठ ८

(४) एक दिन राजा न ब्राह्मण को मारने की आज्ञा किया। पष्ठ ८

(५) मालू न कुवर की रक्षा किया। पष्ठ ८

इसके बाद ६ ७, ८ नबर के उदाहरणा म ठीक प्रयोग है—

(६) जरासध ने उग्रसेन के पास अँगीठी भेजी। पष्ठ ६

(७) नगर म आकर एक पाठशाला स्थापित की। पृष्ठ ४

(८) पाठशाला धूमधाम से चल निकली।'

यहाँ ३ ४ और ५ उदाहरणा म स्तुति, आज्ञा और रक्षा के योग म पुल्लिग क्रिया का प्रयोग है, पर ६ ७ और ८ उदाहरणा म अँगीठी' और 'पाठशाला' के योग म स्त्रीलिंग का।

अब इस पुस्तक के उपसहार म दो चार उदाहरण लीजिए—

(९) वृद्धि पडित लिखत हैं कि स्वाथ सिद्धि न दो म मुख्य था, इसको दो स्त्री थी। पृ० ३२

(१०) एक दिन राजा दोना रानियो के साथ एक ऋषि के यहा गया। प० ३२

ये दोना वाक्य भी पास ही पास के है। नवे वाक्य म दो के लिए स्त्री एक वचन पर दसवें वाक्य म दोना के लिए रानिया बहुवचन। इन मे यदि केवल केतु का दशन हो तो दस वष तक ससार म महाताप और शास्त्र कोप रहता है।

१२—अर्थात केतुओ का उदय और अस्त गणित से नही जाने जाती। पष्ठ २१

ग्यारहवें वाक्य मे महाताप और शास्त्र कोप इन दो के लिए 'रहता है एक वचनात्मक क्रिया है पर बारहवें उदाहरण म उदय और अस्त के लिए 'जान जाते बहुवच नात्मक।'[1]

आचाय द्विवेदी ने एक वाक्य म ऊपर 'नवें वाक्य म शब्द प्रयोग है। यह छाप की भूल जान पडती है। द्विवेदी जी नौ कर नौवां' और नव का 'नवम' चलना न जानते हा ऐसी बात नही है। दसवें को देख कर 'नौवें' का रूप 'नवें समावित भी है जसे दहला' को दख कर 'नहला' बन गया। देखा-देखी रूप बदल जाते ह। सस्कृत 'नव विशेषण से स्वार्थिक ईन जोड कर नवीन' बना, हिन्दी न नग सना म

१ वाग्विलास प० १५२ १५३

स्वार्थिक ईन लगा कर और अपनी मुहर (पु प्रत्यय आ) लगा कर 'नगीना बना लिया। नवें अध्याय म मिलेगा ऐसा बोल भी देत ह। नवम और 'नौवा को मिला कर नवा बन जाना है, चल कि नही, यह अलग बात है।

इसी प्रसग मे आचाय द्विवेदी आगे लिखते हैं—

ऐस अनक उदाहरण बाबू साहब की पुस्तका म हैं। इनका कारण व्याकरण का अभाव है। वह अभाव जसा हरिश्चन्द्र के समय म था वसा ही अब भी है। अत एव इस तरफ हिन्दी जानन वालो का ध्यान आकर्षित करन के कारण हम पर आक्रमण करना सवथा अन्याय है।[1]

आगे द्विवेदी जी कहते हैं—

विश्वास रक्खें, हम किसी पुराने कवि या लेखक को अपमानित करने का स्वप्न म भी कभी ख्याल नही हुआ। परन्तु हमारे सवाई सिकन्दर समालोचक क्यो हमारी बात पर ध्यान दने लगे। हम तो वे उपदेश देते है कि जो बात सच्चे दिल से की जाती है, उसके लिए माफी मागने की जरूरत नही होती पर वे खुद जो काम 'नेक नीयती' से करत ह उसके विषय म अपनी साफ दिली का इजहार देने दौडत ह।[2]

गुप्त जी न कई बार अनेकविध प्रयोगा का सही सिद्ध करने के लिए लिखा था कि लखनऊ म एसा बोलते ह और दिल्ली म ऐसा, दोनो ठीक। इस पर द्विवेदी जी ने लिखा—

लखनऊ और देहली के बोलचाल का पक्षपात इसलिए यही दोना शहर हिन्दी के मखजन हैं। उनके मखजन बनन से पहले यह प्रान्त बिलकुल भाषा शून्य था। हिन्दी वाला का अब चाहिए कि व्याकरण का वारिस या सरपरस्त इन जुबादानो को बना दें।

हिन्दी म बहुरूपियापन पदा करन के लिए देहली और लखनऊ के जुबा दाना की बोली की नकल अचूक अपना काम करगी और थाड ही समय म जितन मुँह उतनी ही बोलियाँ हो जायगी। क्योकि जुबादा जसे बोलत हैं ठीक वसा ही लिखते भी हैं।[3]

आगे द्विवदी जी हिन्दी की शक्ति का स्रोत बतलात हैं— हिन्दी म जो सजीवता है वह उस सस्कृत और प्राकृतमे मिला है अरबी फारसी स नहीं। पर जिस हिन्दी के टुकडे खाकर उर्दू जिन्दा है उसी हिन्दी को अब उर्दू क द्वार पर भीख मागने—उसक

१ वाग्विलास, पृ० १५३
२ वाग्विलास पृ० १५३
३ वाग्विलास पृष्ठ १५४

सेवको की नकल करने—देहली आगरे जाना होगा ? देखें, इन जुबादानो की बदौलत उसकी क्या क्या गति होती है।'[1]

द्विवेदी जी का यह लेख बहुत बडा है। हमने बीच-बीच से चुन कर कुछ उद्धरण दे दिए हैं। इन से द्विवेदी जी का मन और मत दोनो स्पष्ट हो गए हैं। साराश यह कि द्विवेदी जी हिंदी का एक सुव्यवस्थित रूप चाहते थे। उसी के लिए उनका वह उद्योग था और उसमे वे सफल भी हुए।

गुप्त जी का उत्तर

आचार्य द्विवेदी के इस लेख का उत्तर भी गुप्त जी ने बहुत विस्तार से दिया था, पर वैसी झुंझलाहट नही रही। तो भी अपना रग था ही। उनके सुविस्तृत उत्तर से भी आवश्यक अश देकर इस चर्चा को हम यही समाप्त कर देंगे।

अपने ढँग से उपक्रम करके गुप्त जी लिखते हैं—

'फरवरी का लेख लिखते समय यद्यपि आप क्रोधान्ध हो गये है, १७ साल मे कभी आप को इस प्रकार अधीर होते नहीं देखा जैसा इस लेख मे। तिस पर भी आप उस लेख मे बडी गभीरता से समझते हैं—'आप चाहे ऐसी आलोचना के जितना खिलाफ हो पर हरिश्चन्द्र यदि होते तो वे जरा भी मुखालिफत न करते, क्योकि उन्होने खद भी औरो की आलोचना की है। ।"

अहा! अत्यन्त क्रोध मे भी यह धीरता, यह उदारता और यह सुविचार! तिस पर भी अपने अपने ही पथ के पथिक आत्माराम से इतनी नाराजी दिखाई!"[2]

गुप्त जी ने आत्माराम नाम से आचार्य द्विवेदी के साथ वह छेड छाड की थी। आगे—

अधिक दिल्लगी आत्माराम ने उन बातो पर की है जो असल मे तुच्छ है और द्विवेदी जी उन्हें बहुत भारी समझते हैं। यदि एक ही शब्द का उच्चारण दो प्रकार हो तो इसमे कोई क्या कर सकता है ? पर द्विवेदी जी उसमे से भूलें निकालते है ? जैसे आत्माराम के लेखो मे 'जुबान' 'जबान' 'जुबादानी' 'जबादानी' 'जबानदानी' 'जुबानदानी' मौके मौके से आया है। द्विवेदी जी इस पर भी एतराज जमाते हैं। ऐसी बातो पर एतराज जमाने वाले की दिल्लगी न उडाई जाय तो क्या किया जाय ? अपना नावाकफियत से दूसरो की सही चीजो मे भूलें निकालना हँसी कराना है कि नहीं ? क्या व्याकरण ऐसा हुक्म लगा सकता है कि 'जुबान' ही कहो या 'जबान' ही कहो ? इसी प्रकार 'जायगे' 'जायँगे' 'जावेंगे' तीनो बराबर बोले जाते हैं। इन मे से

१ वाग्विलास, पृष्ठ १५५
२ गुप्त निबंधावली, ५११

पहला बोलने मे ज्यादा आता है और पिछले दोना लिखने म । द्विवेदी जी इससे भी अप्रसन्न हैं। पर अप्रसन्नता से क्या हो सकता है ? उनकी नाराजी से इन तीनो का एक बन नही सकता। व्याकरण यह बता सकता है कि यह तीना बोले जाते हैं, इन को मिटा तो नही सकता।[1]

माफ बात है कि द्विवेदी जी ऐसे विविध रूप या विरूप शब्दा का प्रयोग साहित्य मे ठीक नही समझते थ और एक सुसस्कृत रूप चाहते थ। गुप्त जी को द्विवेदी जी की इच्छा एक सनक भर मालूम देती थी। व द्विवेदी जी की गभीरता से कही हुई वसी बातों को दिल्लगी म उडाना चाहते थे। चुहलबाज और दिल्लगीबाज थे ही। द्विवेदी जी को यह सब अच्छा न लगता था। ऊपर दिए हुए उद्धरणो से यह सब स्पष्ट है। गुप्त जी ने 'जायँगे जायेंगे' और जावेंगे ये तीना रूप शुद्ध माने हैं और लिखने म पिछले दोनो रूपा को तरजीह दी है। परन्तु लिखते वे भी थे जायग। द्विवेदी जी तो जायँगे लिखते ही थे।

आचाय द्विवेदी के बाद प० देवीदत्त शुक्ल जब सरस्वती क प्रधान सम्पादक हुए तो उन्होने जायँगे की तरह 'आयगे' रूप भी चलाया था, जो आगे चल न सका। वह एकरूपता का साधक भी न था क्योकि सोयँगे' रोयँगे जसे प्रयोग होते नही। 'जाएगे 'सोएँगे ही क्या ठीक है आगे स्पष्ट होगा छठे अध्याय म। जवां जुबां आदि का घपला उर्दू की चीज है। हिंदी म जबान कही कही चलता है, जसे जहा का जहान। जहानाबादी। यानी उर्दू फारसी का अन्त्य अनुनासिक स्वर निरनुनासिक होकर आगे न आ लगता है आस्मां ? आस्मान, मेहरबां,? मेहरबान। आसमानी रग उनकी मेहरबानी आदि।

आगे गुप्त जी फिर कहते हैं—

द्विवेदी जी का खयाल है कि आत्माराम ने उन पर चोटें की हैं। असल म उन्होने आपके लिखने क ढग की दिल्लगी की है। केवल आप की लख प्रणाली पर नोक झोक है। पढने लिखने का छोड कर आप के किसी विशेष काम से उसका सबन्ध नही।[2]

उसका आत्माराम का यानी गुप्त जी का।

इस विवाद का सुपरिणाम

इस विवाद का सुपरिणाम यह निकला कि हिन्दी के शुद्धाशुद्ध प्रयोग पर सावधानी बरती जाने लगी। लोग समझने लग कि हिन्दी म भी शुद्ध अशुद्ध का विचार होना है।

इस सन्दभ म एक बात ध्यान रखने की है और वह यह कि गुप्त जी (हिन्दी

१ गुप्त निबन्धावली हिन्दी म आलोचना पृ० ५३४
२ गुप्त निबन्धावली, ५३४ ५३५

की प्रकृति के अनुसार) फारसी आदि के (उर्दू माध्यम से) हिंदी म आए हुए शब्दा को तदभव रूप म ही लिखते थे यानी उसके नीचे बिन्दी लगा कर अटपटा उच्चारण प्रकट न करते थे। इसके विपरीत, आचाय द्विवेदी व्यवस्थित ढग से नीचे बिंदी लगाते थे एकदम सही। यही कारण है कि गुप्त जी को उनकी इस हिंदी म बिंदी' का मजाक उडाने का अवसर कहा नहा मिला।

आचाय द्विवेदी व्यवस्था को बहुत पसंद करते थे और इसीलिए लिखा कि यदि हिंदी के लेखक सब सम्मति से 'वह को ही बहुवचन मान लें तो वही ठीक। परन्तु वे समथक थे 'व' के। एकवचन म वह और बहुवचन म वे। द्विवेदी जी ने गुप्त जी की भाषा के कितन ही चिन्त्य पयोगा पर विचार किया है, परन्तु वैसे शब्दा के नीचे बिन्दी न लगाने क कारण किसी शब्द को अशुद्ध नही बतलाया है। स्वय जरूरत' लिखते थे पर गुप्त जी क 'जरूरत को गलत कभी नहीं कहा। वे बिन्दी इसलिए लगाते थे कि सभा ने सवसम्मति स हिन्दी लेखका के लिए वसा नियम बना दिया था। सभा' ही उस समय हिन्दी जगत की सवमान्य सस्था थी। व सोचते हाग बिन्दी का रहना न रहना एक साधारण बात है। जो वसा उच्चा रण नहीं जानने वे 'जरूरत को भी 'जरूरत पढेंगे और जो वसा उच्चारण जानते ह वे जरूरत' को भी 'जरूरत जसा पढेंगे। ऋषि को महाराष्ट्र-गुजरात आदि मे रूषि जसा उच्चारण करते ही है। और जरूरत'— जरूरत व्याकरण की चीज भी नहा है।

हमन आचाय द्विवेदी के जो उद्धरण ऊपर दिए है उनके वस शब्दा क नीच बिन्दी लगी समझ ल। हमने साधारण रूप लिखे हैं। इसी तरह द्विवेदी जी (और गुप्त जी भी) गय' 'आये जस प्रयोग करते थे जायगे आदि भी। इनकी जगह उद्धरणा म यदि गए आए और जाएँगे जस रूप मिल तो उसे हमारे वसा अभ्यास का रूप समझें जा कि आचाय वाजपेयी द्वारा प्रवर्तित धारा है और आज चल रही है। द्विवेदी जी तो इतना ही चाहते थे कि शब्दा म एकरूपता आनी चाहिए—वतनी निश्चित हानी चाहिए। उन्होने एक वतनी सिद्धान्त स्थिर भी कर रखा था और उसी के अनुसार चलते भी थे। पर दूसरो के भिन्न विन्यास को गलत कभी नही कहा, क्योंकि वसा विचार विश्लेषण तब तक हुआ ही न था। उनकी इच्छा उस भाषण के एक अश से भी प्रकट हाती है जो हिंदी साहित्य सम्मेलन के कानपुर क अधिवशन पर स्वागताध्यक्ष-पद स उन्होने दिया था। उस के कुछ अश इस प्रकार है—

जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का याग हाता है वह उसी का अश हो जाती है यह सत्य है। परन्तु इसका यह अथ नही कि विभक्तिया को शब्दा से जाड कर लिखा जाय। संस्कृत-व्याकरण मे भी इस नियम का निर्देश नही है। (पर) उसमे

विभक्तियाँ पृथक रह ही नहीं सकतीं, क्योंकि उनकी सन्धि से शब्दों में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसी बात नहीं है। विभक्तियों को सटा कर या हटा कर लिखना रुचि, शैली या सुभीते का विषय है, व्याकरण का नहीं। शब्द अलग-अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की सम्भावना कम रहती है। व्याकरण का कार्य केवल इतना ही है कि भाषा प्रयोगों की संगति मात्र लगा दे। उसे विधान बनाने का कोई अधिकार नहीं।[1]

इस समय विभक्तियों के सटाऊ हटाऊ प्रयोग पर भी खूब चर्चा थी। यहाँ तक कि विभक्ति को हटा कर प्रयोग करने को लोग गलत समझते थे। सुभीते की बात मुख्य है। 'कौ की बीमारी' अच्छी लगी—'रोटी को बना कर खाते हैं'। यहाँ 'को' 'कौ की बीमारी' में विभक्ति प्रकृति (को) से सटी हुई नहीं है। सटा कर लिखने से 'कोकी बीमारी' प्रयोग एकदम अटपटा हो जाएगा।

हिन्दी में भी जहाँ सन्धि होती है, विभक्ति सटा कर ही लिखी जाती है—'हमें', 'उसे', 'इसे' आदि। 'हमें', 'उसे' तथा 'इसे' में ('ए' और 'ए') विभक्तियाँ सटी हुई हैं, क्योंकि सन्धि है—हम + ए = 'हमें'। उस + ए = 'उसे' और इस + ए = 'इसे'। अन्यत्र विभक्ति अलग रहती है—'हमको', 'उसको', 'इसको'।

हिन्दी की प्रकृति विभक्ति—का हटा कर लगाने की ही आम पड़ती है और इसीलिए— राम गोविन्द और माधव ने मिल कर एक सौदा किया' जैसे प्रयोग होते हैं। 'ने' विभक्ति पृथक स्थित है और इसीलिए तीनों प्रकृतियों के साथ लग जाती है। 'राम ने', 'गोविन्द ने' 'माधव ने'। यदि 'ने' को 'माधव' के साथ चिपका दें, तो 'राम' तथा 'गोविन्द' से उसका मेल समझ में न आएगा। समझने को समझ लो। 'भले लड़के का साथ दो'। यहाँ 'भले' के साथ विभक्ति नहीं है। जहाँ विभक्ति सटा कर प्रयोग होता है वहाँ (संस्कृत में) 'भद्रम् बालकम्' प्रयोग होगा 'बालकम्' की तरह 'भद्रम्' सविभक्तिक रहेगा। हाँ, समास कर देने पर अवश्य 'भद्रबालकम्' होगा। हिन्दी में ऐसी जगह समास करने की प्रवृत्ति नहीं और यदि समास हो समझा जाए तो फिर विशेष्य के साथ विशेषण भी सटा कर लिखना होगा 'भलेलड़केको साथ दो' कैसा रहेगा?

सन्धि के अभाव से वचन का प्रयत्न हिन्दी में है। इसीलिए बता करके में आने वाला 'ने' विभक्ति का वर्ण-व्यत्यय से निर्माण हुआ। 'बानरेन' संस्कृत और 'बानर ने' हिन्दी। बानरेन कृतम्—बानर ने किया। बानर अलग दिखता है और विभक्ति 'ने' अलग। बानर + इन = बानरेन। विभक्ति मिल गई। पर हिन्दी

[1] सरस्वती, भाग १२ सं० १० पृष्ठ ४७३

लती तो झमेला पडता। इसलिए वर्णव्यत्यय करके इन को ने इ और सी थ करके (नमइ) = ने अपनी सुघड विभक्ति। आचार्य वाजपेयी ने 'हिंदी शब्दानुशासन' में इस विषय को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य द्विवेदी अपने उसी भाषण में आगे कहते है—

अपप्रयोग तभी तक माना जाता है, जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि का प्रचलित रीति के प्रतिकूल बोलते या लिखते हैं। अधिक, जन समुदाय, शिष्ट लेखकों वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होने पर वही साधु प्रयोग हो जाता है।

इसका उदाहरण संस्कृत मे 'विश्राम' शब्द है। पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' शुद्ध है—श्रम— विश्रम।

परन्तु संस्कृत साहित्य मे 'विश्राम' का खूब चलन है शिष्ट जनो द्वारा गृहीत है, इसलिए कोई गलत नही कहता। हिंदी मे संस्कृत 'अरि' शब्द चलता है—'अरी' नही। परन्तु मुरारीलाल को कोई गलत नहा कहता, प्रत्युत 'मुरारिलाल' ही अशुद्ध समझा जाएगा। जनता के प्रवाह मे 'मुरारीलाल' है 'मुरारिलाल' नही। संस्कृत मे 'ई' को 'इ' रूप भी मिल जाता है। कालीदास को लोग 'कालिदास' कहने लगे तो यह भी सही मान लिया गया। पाणिनि ने एक सूत्र ही इसके लिए बना दिया कि ऐसे संज्ञा-शब्द परिवर्तित रूप मे भी शुद्ध हैं। हिंदी मे 'सुअवसर' चलता है—जन गृहीत है शिष्ट समादृत है। अब इसे कोई यह कह कर गलत नही कह सकता कि 'सु' तथा 'अवसर' संस्कृत शब्द है और संस्कृत के अनुसार यहा संधि होनी चाहिए, जो नहीं हुई है, इसलिए अशुद्ध है। ऐसा कहने वाले का लोग मजाक उडाएँगे।

आगे अपना भाषण जारी रखते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा—

'हिंदी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपो मे सादृश्य रहे। वे गया की स्त्रीलिंग 'गयी' चाहते हैं, 'गई' नही। कुछ लोग 'लिया' और 'दिया' का स्त्रीलिंग 'लिई' 'दिई' चाहते हैं, 'ली' और 'दी' नही। सरलता के कुछ पक्षपातियो की राय है कि क्रियाओं को लिंग भेद के झमेले से एकदम ही मुक्त कर दिया जाय। परन्तु वक्ताओं का मुँह और लेखकों की लेखनी 'वैय्याकरण' बन्द नहीं कर सकते।'[1]

वैय्याकरण से मतलब उन लोगो से है जो भाषा की गतिविधि जाने बिना ही कुछ भी कुछ राय देने लगते हैं। असली वैय्याकरण तो गति विधि देख पहचान उसके रूप का अन्वाख्यान भर करता है। व्याकरण भाषा की गति को इधर उधर नही कर सकता।

---

१ साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन मे स्वागत पद से भाषण पृ० ४९ ५०

'गई' 'आई' रूप हट नहीं सकते। प्राचीन साहित्य में ये ही रूप आए हैं। परन्तु कोई आज 'गयी' 'आयी' लिखे तो कोई गलत न कहेगा, क्योंकि 'गया, आया, में 'य' विद्यमान है। तब फिर 'आवा' की स्त्रीलिंग 'आवी' होगा क्या ? 'सूपनखा तब आई' को गलत कह कर 'सूपनखा तब आवी' को शुद्ध कहा जाएगा ? क्या इस भ्रम को कोई मानेगा ?

'लिई' 'दिई' का भी अच्छा मजाक है। जो लोग 'गयी' 'आयी' ही पसन्द करते हैं वे जरूर 'लियी' 'दियी' चाहेंगे क्योंकि 'य' रहना चाहिए। परन्तु 'य' बेचारा दो सवर्ण स्वरों (इ' ई) के बीच में पिस जाता है—अदृश्य हो जाता है और तब 'लियी' 'दियी' के रूप 'लिई' 'दिई' रह जाते हैं। परन्तु सवर्ण स्वर साथ-साथ हिंदी में पृथक् रहते नहीं, संधि करके मिल जाते हैं। सो, लि+ई='ली' और 'दि+ई='दी' क्रिया रूप। अब इन्हें कोई 'लिई' 'दिई' कर नहीं सकता। मजलन का दही कौन बना सकता है ? परन्तु ऐसे विचित्र प्रस्ताव हिंदी के लिए सदा होते ही रहे हैं, हिंदी अपने प्रवाह में है। यह प्रकरण छठे अध्याय में विस्तार से आएगा।

क्रियाओं से लिङ्ग भेद मिटाने की भी बात वैसी ही है। संस्कृत में 'सुधा पीता' और 'दुग्ध पीतम्' में 'पीता'—'पीतम्' का भेद मिट कर जब झमेला मिटा दिया जाएगा तब हिंदी में भी 'पिया' 'पी' का झमेला मिट जाएगा। परन्तु उर्दू वाले तो न मानेंगे। वे शराब पी और दूध पिया बोलते लिखते रहेंगे और जनता भी वैसा कोई हुक्म न मानेगी। परन्तु सुधारक को इससे क्या मतलब। ऐसी बातें करने वाले अब भी हैं, आगे भी पैदा होते रहेंगे।

हिंदी में दूसरी भाषाओं के शब्द

हिंदी ही नहीं, संसार की सभी भाषाएँ दूसरी भाषाओं से शब्दों का आदान प्रदान करती हैं। हां क्रिया शब्द (धातु) प्रत्यय—विभक्तियाँ तथा अव्यय आदि सभी भाषाएँ अपने ही रखती हैं। यह बहुत पुरानी पद्धति है। आचार्य द्विवेदी ने अपने उसी (उपर्युक्त) भाषण में कहा है—

'आज कल कुछ लेखक तो ऐसी हिंदी लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अंग्रेजी फारसी अरबी (आदि) सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशी शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं करते। ढूंढ़-ढूंढ़ कर ठेठ हिंदी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित हैं और सब कहीं (हिंदी जगत में) बोलचाल में आते हैं तो उन्हें हिंदी के शब्द समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिंदी

की हानि नहीं प्रत्युत लाभ है।"[1]

बहुत स्पष्ट बात है। संस्कृत प्रचुर भाषा बाद में भी प्रसाद, निराला, पंत आदि प्रयोग करते रहे—कर रहे हैं। यहाँ तक कि मैं तो एक नाचीज हूँ के 'नाचीज' से परहेज करके उसकी जगह 'अपदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। 'अपदार्थ' का मतलब कोई क्या समझेगा? उसकी जगह 'तुच्छ' जैसा शब्द मजे से दिया जा सकता था। 'जानकार' से भी नफरत! उसकी जगह एक बहुत बड़े हिन्दी उपन्यासकार ने 'भिज्ञ' शब्द का प्रयोग बार बार किया और तब आचार्य वाजपेयी को टोकना पड़ा। वे 'अभिज्ञ' के 'अ' को निषेधात्मक समझ कर 'भिज्ञ' लिख रहे थे और अनभिज्ञ को शायद गलत समझ रहे थे। समझा होगा कि अभिज्ञ का अर्थ है जो 'भिज्ञ' (जानकार) न हो। 'भिज्ञ' में 'अन' लगा कर 'अनभिज्ञ' बनाना गलत, जैसे 'अहित' की जगह 'अनहित' तुलसी प्रयोग।

इसी तरह के लोगों ने राजदम्पति के स्थान पर का गलत कह कर 'राजदम्पती' के स्थान पर को शुद्ध बतला कर हिन्दी को अनजाने विकृत करने की चेष्टा की और 'चार फुट लम्बा' को गलत बतला कर 'चार फीट लम्बा' को शुद्ध घोषित करके चलाना चाहा। इन बीमारियों का इलाज आचार्य वाजपेयी ने किया और बतलाया कि हिन्दी ने संस्कृत का प्रातिपदिक 'दम्पति' शब्द लिया है उसका द्विवचन रूप 'दम्पती' नहीं। इसलिए हिन्दी में 'दम्पती' शब्द गलत प्रयोग है।[2] इसी तरह हिन्दी ने अंग्रेजी का प्रातिपदिक 'फुट' लिया है, उसका (वहाँ का) बहुवचन रूप 'फीट' नहीं। इसलिए 'चार फीट लम्बा' गलत प्रयोग है जैसे कि 'मेरे मकानात पुराने पड़ गए हैं' हिन्दी में गलत है 'मेरे मकान पुराने' ठीक प्रयोग है। यह विस्तार से कहने सुनने की बात है। अगले अध्याय में इस पर विचार किया गया है।

आचार्य द्विवेदी की भाषा में संस्कृत के साथ फारसी के शब्द भी हैं, अंग्रेजी के भी। यह भाषा-परिष्कार का विषय नहीं है यानी पद प्रयोग आदि की मीमांसा में नहीं आता। हाँ 'फुट'—'फीट' आदि का विचार विश्लेषण हमारा विषय है, जो आगे चल कर मिलेगा ही।

परस्पर विचार और शिक्षण

आचार्य द्विवेदी अपने संगी-साथियों से शब्द सम्बन्धी विचार विमर्श चिट्ठी पत्री द्वारा भी किया करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में आचार्य जी के जो कागज-पत्र सुरक्षित हैं, उनके देखने से पता चलता है कि वे इस विषय में कितने

१ साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण पृष्ठ ४६-५०

२ हिन्दी शब्द मीमांसा पृष्ठ ७६

आगरा थे। उनका पत्र-व्यवहार महाकवि हरिऔध से एक शब्द-प्रयोग पर बहुत लम्बा हुआ था। महाकवि ने अपना मत त्याग प्रतिपादन करके फिर अंत में द्विवेदी जी की बात मान ली थी।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक उन दिनों 'चाँद' में दुबेजी की चिट्ठी नाम से लेख लिखते थे। उनकी चिट्ठियाँ 'सरस्वती' में बराबर प्रकाशित होती रहती थीं और लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे। द्विवेदी जी ने कौशिक जी को भाषा के सम्बन्ध में कुछ सूत्र दिए—यहाँ—

'आप सरस्वती ध्यान से नहीं पढ़ते। पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की वर्तनी की ओर आप का ध्यान अवश्य जाता। सरस्वती की अपनी निजी लेखन शैली है। वह मैं आप को बताता हूँ। क्रिया—जब क्रिया के रूप में लिखी जाती है तब यकार से लिखा जाता है और जब विभक्ति के रूप में आता है, तब 'एकार' से लिखा जाता है।'[1]

मतलब यह कि क्रिया का बहुवचन 'लिये' और अव्यय (सम्प्रदानार्थक) 'लिए'—राम के लिए मैंने आम भी लिये हैं। यह बात आचार्य ने समझाई है। इसलिए—जो शब्द एकवचन में यकारान्त रहते हैं, वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे जैसे 'किया-किये', 'गया-गये' परन्तु स्त्रीलिंग में यकार से न लिखकर 'ईकार' से 'गई' लिखा जाता है। चाहिए, चाहिए, देखिए, इत्यादि में एकार लिखा जाता है।'[2]

मिश्रबन्धु आदि में 'चाहिये', 'कहिये' जैसे प्रयोग चलते थे, इसीलिए मिश्री लखनऊ वाली कहा है। निःसंदेह 'चाहिये' जैसे प्रयोग गलत हैं, परन्तु गलती का विचार विश्लेषण तब तक न हुआ था, यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी की प्रकृति पहचान ली थी। वैसे विरूप—विरूप शब्दों पर विचार बहुत दिन बाद 'हिन्दी शब्द मीमांसा' तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' में हुआ। परन्तु तो भी आज भी लोग 'चाहिये' जैसे प्रयोग करते हैं और 'एशियायी जनता' जैसे प्रयोग भी खूब किए जाते हैं। यह तो अभ्यास की चीज है। वैसे पूरी तरह विचार हो चुका है कि 'चाहिये', 'एशियायी' काम किये बिना चल नहीं आदि प्रयोग गलत हैं। य फालतू चिपका कर रूप भ्रष्ट किए गए हैं। हाँ 'किये', 'गये' आदि में य ठीक ही है पर 'किए', 'गए' आदि भी गलत नहीं, 'गई' तथा 'गई' 'आई' की सा-प्रयोग हैं। विश्लेषण आगे होगा। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की प्रकृति दूढ ली थी और अपना मत स्थिर कर लिया था। मानो बहुत कुछ काम इन्होंने अकेले ही कर दिया था—जंगल-बीहड़ काट कर मार्ग तैयार कर दिया था, उसी मार्ग हिन्दी में प्रशस्त हुआ।

'आकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता है जैसे, हुआ का बहुवचन, हुए।'[2]

[1] सरस्वती भाग ४० संख्या २ पृ० १६२

[2] आचार्य वाजपेयी हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० १६

इस का मतलब यह कि औरों की तरह कौशिक जी भी 'हुय' 'हुवे' लिखते होंगे। द्विवेदी जी को सारा लेख रँगना पड़ता होगा। 'हुये' 'हुवे' तो गए; पर 'आयेगा' 'आवेगा' आज भी चल रहे हैं; यद्यपि छोड़ते जा रहे हैं। आचार्य वाजपेयी का विश्लेषण है कि 'आएगा' रूप ही शुद्ध है, शेष सब गलत हैं। अब 'आयेगा' 'आवेगा' से हिन्दी का पिंड छूटता जा रहा है। अनुस्वार आदि भी लगाने में गड़बड़ी थी। द्विवेदी जी कहते हैं—

जहाँ पूरा अनुस्वार बोलें, वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है, जैसे संस्कार और जहाँ आधा अनुस्वार (जिसे उर्दू में नून गुन्ना कहते हैं) बोलें, वहाँ चन्द्रबिन्दु लगाया जाता है जैसे—काँपना।

ऐसा जान पड़ता है कि बाद में अध्यापक अपने छोटे छात्रों को सब समझा रहे होंगे। स्थिति ही ऐसी थी। और अब इतने विवाद क्यों? वही भी है और यह भी है। आज भी साप्ताहिक हिन्दुस्तान में 'हसमुख' लिखकर भेजो, तो छपेगा 'हँसमुख'। ऐसे अनुनासिक चिह्न (चन्द्रबिन्दु) रखे ही नहीं गये हैं। सर्वत्र अनुस्वार चलता है। एक जगह 'चन्द्रवदन' का 'चंदवदन' करके फिर 'चंदवदन' चलता है। पूछने पर कहा कि चन्द्रबिन्दु अच्छा लगता है, जैसे आसमान में चाँद। यह हिन्दी जगत है, हिन्दुस्तान है।

जहाँ अनुस्वार पूरा बोला जाए, जहाँ अनुस्वार हलका बोला जाए, यों व्यवस्था लोग न कर शब्द-प्रयोग किए हैं, जिन्हें द्विवेदी जी कह रहे हैं। वस्तुतः अनुस्वार सदा पूरा बोला जाता है, कभी आधा नहीं। यह सब हिन्दी अनुशासन में बतलाया गया है। जब कहा गया कि अनुस्वार हलका बोला जाए तब चन्द्रबिन्दु लगा लोग। भ्रम बढ़ा कि अनुस्वार के दो हलका उच्चारण लोग करने लगे जैसे चेहरा मेहरा सहरा आदि में आधा हलका सा उच्चारण है और चेला सेहत मेनका आदि में पूर्ण। इसी तरह अनुस्वार का हलका, पूरा उच्चारण ऊपर बिन्दु से ही हो जाएगा तब चन्द्रबिन्दु का बखेड़ा बेकार। इसी विचार से हँसमुख की जगह हसमुख लोग आज भी चला रहे हैं—भाषा का नाश कर रहे हैं। यह भी नहीं सोचते कि 'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं और भिन्नार्थक हैं। तब एक चिह्न से दोनों का काम कैसे चल सकता है?

अनुस्वार एक पृथक् ध्वनि है। व्यंजन वर्ण स्वर से पहले जुड़ता है और बाद में भी। 'तत' में स्वर 'अ' बीच में है और व्यंजन दो। एक व्यंजन (त्) स्वर (अ) से पहले जुड़ा है और एक बाद में।

हैं और इनका नाम 'प्रयागवाह' रखा गया है। हम मतलब यहाँ अनुस्वार से है। विसर्ग केवल संस्कृत की चीज है और संस्कृत तत्सम शब्दों में ही हिन्दी उसे गृहीत करती है—प्रायः आदि में। अन्य किसी भाषा में विसर्ग नहीं है। हिन्दी 'छह' को सविसर्ग 'छः' लिखना गलती है; यह सब आगे कहा जाएगा। अनुस्वार हिन्दी में पूर्णतः गृहीत है और यह कभी भी 'हलकी मारी' स्थिति नहीं रखता। सदा एक-सा रहता है। स्वर के अनन्तर ही यह रहता है, इसीलिए इसे 'अनुस्वार' कहते हैं—स्वरात् अनु (पीछे) अनुस्वार और अनुस्वर ही 'अनुस्वार'। एक विशेष संज्ञा क्योंकि 'तत' आदि में अन्त्य व्यंजन को अनुस्वार है। उसी से व्यवच्छेद के लिए रूपान्तर अनुस्वार। देखिए—

अंगूर, अंगुष्ठ, कंकण, डंडा, कंडा, पहले स्वर (अ) उच्चरित होता है तब अनुस्वार यानी अङ जैसी स्थिति है। डंडा में डन जैसी स्थिति है। चंचल में चन् जैसी स्थिति है। हिन्दी में 'ङ' जैसा उच्चारण अनुस्वार का होता है—कङ्कण। जान पड़ता है यही इसकी असली स्थिति है। यद्यपि अनुस्वार का उच्चारण नासिका से होता है—अनुस्वार का स्थान नासिका है, परन्तु केवल नासिका कुछ नहीं कर सकती। सब से पहला स्वर व्यंजन वर्णों का उच्चारण स्थान कंठ है, उसके बाद तालु आदि है। कंठस्थानीय व्यंजन वर्णों में 'ङ' अनुनासिक वर्ण है। अनुस्वार ने उसी का रूप ग्रहण किया। ञ्, ण् हिन्दी में—हिन्दी के निजी रूप गठन में—है नहीं, इसीलिए 'चंचल' में अनुस्वार 'ञ' की नहीं, 'न' की ध्वनि देता है और 'टंडन' में भी (ण्) की नहीं 'न' की ही। 'चनचल', 'टनडन' जैसी ध्वनि है। 'दंत', 'पंप' में 'न' तथा 'म' की ध्वनि स्पष्ट है—दन्त, पम्प। चूँकि 'न' और 'म' हिन्दी में गृहीत हैं, इसलिए उनके स्पष्ट उच्चारण में उन्हीं का प्रयोग ठीक; 'दन्त', 'पम्प'।

सर्वत्र पूरा उच्चारण है। आधा या हल्का उच्चारण कहाँ है?

अँगीठी, अँगूठा, कँगना, सँदेशा, बाँट, छींट इत्यादि स्थलों में (हलके उच्चारण वाला) अनुस्वार नहीं है; स्वरों के बाद नासिक्य ध्वनि नहीं है—नासिक्य ध्वनि से युक्त स्वर हैं। इन्हें अनुनासिक स्वर कहते हैं। अंगूर आदि में पहले स्वर बोला जाता है, तब वह नासिक्य ध्वनि, जिसे अनुस्वार कहते हैं। परन्तु अँगीठी अँगूठा में वह बात नहीं है। यहाँ 'अ' का अनुनासिक उच्चारण है। नासिक्य ध्वनि स्वर में घुली मिली है। इसी तरह बाँट में 'आँ' अनुनासिक स्वर है और 'छींट' में 'ईं' अनुनासिक है। ऊपर मात्रा चिह्न लगाने की सुविधा से ऐसी जगह चन्द्रबिन्दु (ँ) न देकर केवल बिन्दु (ं) देकर ही काम चला लेते हैं, क्योंकि उच्चारण ऐसी जगह अनुनासिक स्वर का ही होता है, सानुस्वार स्वर का नहीं। सानुस्वार स्वर ऐसे जैसे—दूध के साथ भात। दूध एक चीज है भात दूसरी। दोनों साथ 'सदुग्ध भक्तम'। अनुनासिक स्वर की जगह 'सानुनासिक स्वर' कहना गलती है, क्योंकि अनुनासिकत्व स्वरों से पृथक् नहीं।

श्राम मीठा होता है, मिठास श्राम से पृथक नहीं, इसलिए मीठा श्राम 'मधुर रसालम्'। मीठे सहित श्राम' या समधुर श्राम्र नहीं कह सकते। इसी तरह 'सानुनासिक स्वर' नहीं कह सकते। यानी अनुनासिक विशेषण है और अनुस्वार संज्ञा है एक भिन्न चीज का नाम है।

हिंदी शब्दानुशासन' में यह सब बहुत अच्छी तरह आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है।[1]

सो कौशिक जी को आचार्य द्विवेदी ने समझाया कि अनुनासिक स्वर को 'चन्द्रबिन्दु' से लिखा करो और सानुस्वार पर केवल बिन्दु लगाया करो। पचास साठ वर्ष बीत जाने पर भी आज लोग 'नूनगुना' नहीं समझ पाए हैं और 'हँसमुख' को 'हंसमुख' छापते हैं? असावधानी से गलती से वैसा हो जाए, तब तो कोई बात नहीं। परन्तु जब किसी गलती को लोग एक सिद्धान्त बना लेते हैं तब गदर मच जाता है।

इसी तरह द्विवेदी जी 'सरस्वती' के लेखकों को समझाया करते थे, कभी कभी कुछ खीझ भी जाते थे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त उन दिनों मैदान में उतरे ही थे। द्विवेदी जी का बड़ा स्नेह इन पर था। उसी स्नेह के कारण झाड़ फटकार भी बता देते थे। गुप्त जी ने एक कविता 'क्रोधाष्टक' नाम से 'सरस्वती' को छपने भेजी। द्विवेदी जी ने कविता को देख कर गुप्त जी को लिखा—

हम लोग सिद्ध कवि नहीं हैं। बहुत परिश्रम और विचार पूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ लिखकर छपा देना ही आप का उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा। परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये। पहला ही पद्य लीजिए—

'होवे तुरंत उनकी बल हीन काया
जानें न वे तनिक भी अपना पराया।
होवें विवेक बर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध जो जन करें तुझ को कदापि।

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं, जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप सरस्वती के लिए लिखना चाहें तो इधर उधर अपनी कविताएँ छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहेंगे छापेंगे। जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए न किसी को दिखाइए। ताले में बन्द करके रखिए।'[2]

१ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ६० ६३
२ सरस्वती भाग ४०, संख्या २ पृष्ठ २००

हम लोग सिद्ध कवि नहीं हैं से वाक्य का आरम्भ द्विवेदी जी ने किया है। तुम या 'तुम्हारे जसे लोग न लिखकर वह स्थिति प्रकट की है जो कि मान्य स्थान आचार्य के योग्य है।

ताले म बन्द करके रखिए कहा है फाड कर फेंक दीजिए, नहीं कहा। जिस पर चोट न लगे, इसका भी ध्यान है। ताले म बन्द चीज फिर देखी जाएगी तो मालूम हो जाएगा कि क्या कमी थी क्या त्रुटि थी। कविता के बारे म एक संस्कृत सहृदय ने कहा है कि यदि केवल जोड गाँठ की हो चीज है तो मन म ही छिपाए रहो, लिखो भी मत—दुष्कृतमारमन कृतमिव स्वान्नाद बहिर्मा कथा अपने दुष्कृत की तरह प्रकट मत करो बदनामी होगी।

होवें होव ब्रजभाषा के प्रभाव स गुप्त जी लिख गए। 'होती है' की जगह होव' 'होव' है वहाँ चलते हैं। रोव है तेरो काह जसोम्न देख री जमुना-तीर'। 'रोव है—रोता है। है लगाए बिना भी करें जो सब का ही प्रतिपाल।' रूप चलते हैं ब्रजभाषा म। करं—करता है। पढ नित चारो वेद गनेस। पढ़—पढ़ता है। सानुस्वार बहुवचन पढ़ें—पढ़ते हैं। आचार्य वाजपेयी ने 'ब्रजभाषा व्याकरण' म बत लाया है कि पढे कर आदि क्रियाए ब्रजभाषा म आशीर्वाद सभावना आदि म जो चलती हैं उन्ही के रूप हिंदी म 'पढे कर' आदि हैं। सानुस्वार बहुवचन पढें करें। परन्तु वतमान म भी वहाँ पढ-पढें है कर-करं है आदि रूप चलते हैं।

प० श्रीधर पाठक का वाक्य है जहाँ नर है वह भागी। यह ब्रजभाषा का प्रभाव है।

वतमान काल की ति 'न्ति विभक्तियो के व्यजन का लोप करके लोक भाषा ने इ' इ अपनी विभक्तियाँ बना ली। कर पठ जाग आदि अकारान्त धातुओं म लगने पर 'वृद्धि सन्धि ब्रजभाषा म कर+ई=करं। 'कर करता है। करं-करते हैं। हिन्दी मे ह धातु सत्तायक है। उसमे वतमान काल की विभक्तिया लगने पर भी वृद्धि सन्धि ह+इ—'है और ह+ई=हैं। इसीसे फिर सब क्रियाओं के वतमान—करता है—करते है आदि। परन्तु ब्रजभाषा आदि मे सभी धातुओ से ये (इ इ) प्रत्यय जुडकर कर करं आदि वतमान रूप बनते हैं। परन्तु विधि, सभावना आशीर्वाद की क्रियाएँ भी कर करं जसे रूप रखती हैं। उनसे भेद प्रकट करने के लिए ही 'कर-करै को करं है—करं हैं भी लिखने बोलने लगे। इसी तरह रोव रोवं है' और 'रोव रोव हैं।

विधि आदि के इ इ प्रत्यय ति ति के घिसे हुए रूप नहीं हैं। वे पठेत' आदि से प्रभावित हैं। पठेत का रूप पढे'। अन्त्य व्यंजन का लोप और 'ठ' को 'ढ। यहा सभी धातुए स्वरान्त हैं। सो पढे का विच्छेद—पढ—'इ। सानुस्वा

करके पढ़ें। व्रजभाषा म पन पढ़ै'। रो, धो, सो, जसी धातुग्रा से परे 'इ को 'ए हो जाता है—रोए सोए, धोए। व्रजभाषा रोव, धोव, सोव धातु रूप हैं। रोवत है, धोवत है सोवत है, जसे क्रिया रूप होते हैं। इनम वतमान या विधि ग्रादि के 'इ' 'इ' प्रत्यय लग कर वद्धि' सधि होकर रोव सोव धोव, त्रिया रूप। ग्राग ग लगाकर भविष्यत रूप—रोवगो सोवगो धोवगा। 'हो धातु व्रजभाषा म भी है— होव नही है। 'होत है होत हैं त्रिया रूप होत हैं—होवत है जस नही। परन्तु सोव ग्रादि को देखकर 'होव ग्रादि रूप चल पडे। व्रजभाषा के ग्राव ग्रावगो ग्रादि के प्रभाव से हिन्दी म भी लोग ग्रावे' ग्रावगा ग्रादि लिखने लगे।

दूसरे लोगा ने दखा कि हिन्दी म 'ग्रावा' नही ग्राया चलता है तो 'ग्रावे ग्रावेगा' की जगह 'ग्राये' ग्रायेगा' जसे प्रयोग करन लगे। राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण सामने ग्राया, तब मालूम हुग्रा कि वे सब रूप विकृत हैं ग्राए ग्राएगा' जाए' जाएगा 'सोए सोएगा जसे प्रयोग शुद्ध हैं। हिन्दी म ग्रा जा' धातु रूप है। इनके ग्रागे इ 'इ' विभक्तिया ग्रौर 'इ को 'ए रूप—ग्राए 'ग्राएगा जाए जाएगा। ग्रकारान्त धातुग्रा मे गुण-सधि—कर+इ—करे-करेगा।

सो, गुप्त जी ने 'होवे वतमान काल म लिखा। व्रजभाषा के होव को होवे' कर लिया। इ' 'इ तिङ' विभक्तिया है यम भेद नही रखती। वक्ष पतित लता पतति फल पतति। इस तरह काया बलहीन होव—शरीर बलहीन हो जाता है ग्रौर मन बलहीन होव—मन बलहीन हो जाता है। हिन्दी मे है हैं' म भी वही है—लडका है—लडकी है। विधि ग्रादि की 'इ' भी तिङवश की है—लडका लडकी पढे। यह इतना प्रासगिक, यह बतलाने के लिए कि गुप्त जी ने होव क्रिया का प्रयोग कैसे किया। यह व्याकरण का विषय है।

गुप्त जी ने ग्राचाय की बात गाँठ बाध ली ग्रौर ग्रागे सावधानी ऐसी बरती कि चार ही छह वर्षों मे चमक उठे।

'भारत भारती उनकी कलम से निकली ग्रौर ग्रागे साकेत' तथा यशाधरा जसी कृतियो न उनको वह यश ग्रौर सम्मान दिया जिसकी कलम के धनी कामना किया करत हैं। उस स्थिति म पहुच कर भी गुप्त जी ग्रपने ग्राचाय को भले नही। साकेत' म कहा—

'करते तुलसीदास भी कस मानस-नाद
महावीर का जो उन्हें मिलता नही प्रसाद।

'हनुमान जी' को उधर 'महाबीर जी' कहते हैं। तुलसीदास के इष्ट गुरु हनुमान जी थे।

हिन्दी व्याकरण

आचार्य द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण वाले दोनों लेखों में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि हिन्दी के साहित्यिक रूप को व्यवस्थित करने के लिए एक अच्छे व्याकरण की जरूरत है। आगे भी वे इस बात का अनुभव करते रहे और बार-बार कहते रहे। उनकी अपनी शक्ति तो सरस्वती में लगी थी जिसके द्वारा वस्तुतः हिन्दी व्यवस्थित हो रही थी। इसलिए वे किसी दूसरे को इस काम में लगाना चाहते थे। उनके प्रस्ताव पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पं० कामता प्रसाद गुरु से एक सर्वाङ्गपूर्ण हिन्दी व्याकरण लिखवाया। उधर कलकत्ते में पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी भी एक उत्तम हिन्दी व्याकरण लिखने लगे और गुरु जी के हिन्दी-व्याकरण से पहले ही प्रकाशित करा दिया। 'गुरु' जी ने अपने हिन्दी व्याकरण की भूमिका में वाजपेयी जी के इस व्याकरण हिन्दी कौमुदी की बहुत प्रशंसा की है। पहले के सभी हिन्दी व्याकरणों की आलोचना 'गुरु' जी ने की है पर हिन्दी-कौमुदी की प्रशंसा ही की है आलोचना किसी भी अंश की नहीं।

ये दोनों व्याकरण अन्त प्रसिद्ध हुए। परन्तु 'गुरु' जी का हिन्दी-व्याकरण आचार्य द्विवेदी के परामर्श से सभा ने बनवाया था और प्रकाशित किया था, इसलिए इसी को सर्वोपरि मान और प्रचार मिला। आचार्य द्विवेदी जब सरस्वती सेवा से निवृत्त होकर अपने गाँव (दौलतपुर रायबरेली) जाकर रहने लगे तब व्याकरण का अवलम्बन हिन्दी को मिला। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने जो काम भाषा-परिष्कार का कर दिया था उससे आगे और कुछ न हुआ। प्रत्युत कहीं कुछ बाधा ही पड़ी।

पिछले सब हिन्दी-व्याकरण [illegible] । [illegible] और प्रश्न
दोनों और व्याकरण सम्पूर्ण-व्याकरण [illegible] तयार बने। [illegible] धारणा
[illegible] । हिन्दी का अपनी [illegible] व्यवस्था [illegible]
[illegible] और न [illegible]
हिन्दी के अनुसार बन जाएगा, [illegible]
[illegible] कि हिन्दी व्याकरण [illegible]
[illegible] ध्यान [illegible]
[illegible] कि [illegible]
[illegible] अपना [illegible]
ध्यान न हिन्दी और
[illegible] कर [illegible]

[illegible]

सस्कतानुसारी हिन्दी-व्याकरण के वे नियम धरे ही रह गए, जो हिन्दी प्रकृति से हट कर थे। इस ओर आचार्य वाजपेयी का ध्यान गया और उन्होने सन १९५८ मे 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम का प्रौढ हिन्दी व्याकरण लिख कर प्रकाशित कराया। यह व्याकरण हिन्दी का 'अपना' है। हिन्दी के स्वरूप का अन्वाख्यान इसमे है। जसे आचार्य द्विवेदी की धारा को आगे बढा कर रहा बचा हिन्दी परिष्कार का काम आचार्य वाजपेयी ने पूर्ण किया उसी तरह उनके प्रिय विषय हिन्दी व्याकरण' को भी पूर्णता दी। भाषा परिष्कार का जो काम वाजपेयी जी ने किया उसका दिग्दर्शन अगले अध्याय म होगा। व्याकरण विवेचन एक अलग चीज है। यहा चर्चा भर कर दी गई है। भाषा-परिष्कार म व्याकरण, भाषा विज्ञान भाषा की प्रकृति का निरीक्षण और भाषा प्रवाह आदि बहुत सी बातें देखनी होती है। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोनो स्वतन्त्र विषय हैं। उनका विषय यहा छेडना अपने विषय से भटक जाना है।

भाषा परिष्कार की सीढ़िया

यो भाषा परिष्कार की कई सीढ़िया हैं। हिन्दी स्वरूपत अत्यन्त परिष्कृत भाषा है। इसका जो रूप अब स सात आठ सौ वर्ष पहले था, वही अब भी है। परन्तु इसके साहित्यिक रूप कलम के कारण कुछ बदलते रहे हैं कभी अच्छे और कभी नीरस। अपनी अपनी रुचि से लोगो ने सन १८०१ से सन १८६० तक विविध रूप-प्रयोग किए।

सन १८६० से सन् १९०० तक भाषा रूप का चिन्तन हुआ। बहुत कुछ निखार हो चुका था परन्तु विचार भिन्नता के कारण उस्ने' उन्ने' आदि प्रयोग आए और गए। हिन्दी अपने रूप म रही।

सन १९०१ से १९२० तक हिन्दी के रूप का विशेष चिन्तन हुआ और एक सुन्दर साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। यही द्विवेदी युग है।

सन १९०३ म आचार्य द्विवेदी सरस्वती सेवा म आए और सन १९२१ म अपना कर्तव्य पूरा करके गाव चले गए। १९१३ और १९२१ मे हिन्दी का रूप जो बन चुका था वही आज तक है और आगे भी वही रहेगा। आगे हम १९१८ के दो लेख सरस्वती से लेकर दे रहे हैं। उनकी भाषा देखिए और आज (१९६० ६८) की भाषा देखिए। मिलान कीजिए क्या अन्तर है। ऐसा जान पडेगा कि आज इसी महीने की किसी मासिक पत्रिका म छपे लेख पढ रहे हैं।

१९०८ की सरस्वती में हिन्दी का एक लेख देखिए

"फेडरिक पिन्काट"

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

आज तक कई यूरोपियन विद्वानो का ध्यान हिन्दी की तरफ रहा। पर यदि

हिंदी व्याकरण

आचार्य द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण वाले दोनों लेखों में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि हिन्दी के साहित्यिक रूप को व्यवस्थित करने के लिए एक अच्छे व्याकरण की जरूरत है। आगे भी वे इस बात का अनुभव करते रहे और बार बार कहते रहे। उनकी अपनी शक्ति तो सरस्वती में लगी थी, जिसके द्वारा वस्तुतः हिंदी व्यवस्थित हो रही थी। इसलिए वे किसी दूसरे को इस काम में लगाना चाहते थे। उनके प्रस्ताव पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प० कामता प्रसाद गुरु से एक सर्वाङ्गपूर्ण हिंदी व्याकरण लिखवाया। उधर कलकत्ते में प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी भी एक उत्तम हिन्दी व्याकरण लिखने लगे और गुरु जी के हिन्दी-व्याकरण, से पहले ही प्रकाशित करा दिया। 'गुरु जी ने अपने हिंदी व्याकरण की भूमिका में वाजपेयी जी के इस व्याकरण हिंदी कौमुदी की बहुत प्रशसा की है। पहले के सभी हिंदी व्याकरणों की आलोचना 'गुरु' जी ने की है पर हिंदी-कौमुदी की प्रशसा ही की है आलोचना किसी भी अंश की नहीं।

ये दोनों व्याकरण बहुत प्रसिद्ध हुए। परन्तु 'गुरु' जी का हिन्दी व्याकरण' आचार्य द्विवेदी के परामर्श से सभा ने बनवाया था और प्रकाशित किया था, इसलिए इसी को सर्वाधिक मान और प्रचार मिला। आचार्य द्विवेदी जब सरस्वती सेवा से निवृत्त होकर अपने गाँव (दौलतपुर रायबरेली) जाकर रहने लगे तब व्याकरण का अवलम्बन हिंदी को मिला। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने जो काम भाषा-परिष्कार का कर दिया था उससे आगे और कुछ न हुआ। प्रत्युत कहीं कुछ बाधा ही पड़ी।

पिछले सब हिंदी व्याकरण अंग्रजी व्याकरण के ढग पर बने थे और प्रकृत दोनों प्रौढ़ व्याकरण सस्कृत-व्याकरण का आधार लेकर बने। फलत दोनों धाराएँ भटक गई। हिन्दी की अपनी अलग पद्धति है अलग व्यवस्था है। न यह अंग्रेजी के पीछे भागती है और न एकदम सस्कृत का ही पल्ला पकड़ती है। हिंदी का व्याकरण हिंदी के अनुसार बने चलेगा, अंग्रेजी या सस्कृत के अनुसार नहीं। आचार्य द्विवेदी ने कहा था कि हिंदी व्याकरण यथा सभव सस्कृत-व्याकरण के अनुसार बनना चाहिए। यथा सभव शब्द ध्यान देने योग्य है।[1]

यह ठीक है कि हिन्दी ने यथा सभव सस्कृत की पद्धति अपनाई है, परन्तु कहीं अपना अलग रास्ता भी पकड़ा है। वाजपेयी जी ने और गुरु जी ने इस बात पर ध्यान न दिया और सस्कृत-व्याकरण के ही नियम लिख दिए। हिन्दी भला पराये नियमों का पालन क्या करती? उसकी अपनी स्वतत्र चाल ज्यों की त्यों बनी रही और

---

१ आचार्य द्विवेदी वाग्विलास पृ० १३१

सस्कतानुसारी हिन्दी-व्याकरण के वे नियम धरे ही रह गए, जो हिन्दी प्रकृति से हट कर थे। इस ओर आचाय वाजपेयी का ध्यान गया और उन्होने सन १९५८ मे हिन्दी शब्दानुशासन' नाम का प्रौढ हिन्दी व्याकरण लिख कर प्रकाशित कराया। यह व्याकरण हिन्दी का अपना है। हिन्दी के स्वरूप का व्याख्यान इसम है। जसे आचाय द्विवेदी की धारा को आगे बढ़ा कर रहा बचा हिन्दी परिष्कार का काम आचाय वाजपेयी ने पूण किया उसी तरह उनके प्रिय विषय हिन्दी व्याकरण' को भी पूणता दी। भाषा परिष्कार का जो काम वाजपेयी जी न किया उसका दिग्दशन अगले अध्याय म होगा। व्याकरण विवेचन एक अलग चीज है। यहा चर्चा भर कर दी गई है। भाषा-परिष्कार म व्याकरण, भाषा विज्ञान भाषा की प्रकृति का निरीक्षण और भाषा प्रवाह आदि बहुत सी बातें देखनी होनी है। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोना स्वतत्र विषय है। उनका विषय यहाँ छेड़ना अपने विषय से भटक जाना है।

भाषा परिष्कार की सीढ़ियाँ

यो भाषा परिष्कार की कई सीढ़िया हैं। हिन्दी स्वरूपत अत्यन्त परिष्कृत भाषा है। इसका जो रूप अब से सात आठ सौ वष पहले था वही अब भी है। परन्तु इसके साहित्यिक रूप 'कलम' के कारण कुछ बदलते रहे हैं कभी अच्छे और कभी नीरस। अपनी अपनी रुचि से लोगा ने सन १८०१ से सन १८९० तक विविध रूप प्रयोग किए।

सन १८९० से सन १९०० तक भाषा रूप का चिन्तन हुआ। बहुत कुछ निखार हो चुका था, परन्तु विचार भिन्नता के कारण 'उस्के' उने आदि प्रयोग आए और गए। हिन्दी अपने रूप मे रही।

सन १९०१ से १९२० तक हिन्दी के रूप का विशेष चिन्तन हुआ और एक सुन्दर साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। यही द्विवेदी युग है।

सन १९०३ म आचाय द्विवेदी सरस्वती सेवा म आए और सन १९२१ म अपना कत्तव्य पूरा करके गाँव चले गए। १९१३ और १९२१ म हिन्दी का रूप जो बन चुका था वही आज तक है और आगे भी वही रहेगा। आगे हम १९१८ के दो लेख सरस्वती से लेकर दे रहे है। उनकी भाषा देखिए और आज (१९६० ६८) की भाषा देखिए। मिलान कीजिए क्या अन्तर है। ऐसा जान पडेगा कि आज इसी महीने की किसी मासिक पत्रिका म छपे लेख पढ रहे हैं।

१९०८ की सरस्वती में हिन्दी का एक लेख देखिए

"फेडरिक पिन्काट"

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

आज तक कई यूरोपियन विद्वाना का ध्यान हिन्दी की तरफ रहा। पर यदि

हम से कोई पूछे कि इनमें से किस महानुभाव ने उनके लिए अधिक व्यग्रता दिखाई, किसने उनके प्रचार में अपने हाथों से कुछ करने का कष्ट उठाया, कौन उसकी बस्ती में जाकर सबसे अधिक प्रशंसित हुआ और कौन उनके पालने वाला था और सबसे अधिक आशान्वित हुआ तो हम को फ्रेडरिक पिन्काट ही का नाम लेना पड़ेगा। भारतवर्ष की सब भाषाओं का रस नाम लेना हिन्दी को सार मानना और उसको हिन्दुस्तान की सब प्रधान भाषा मानना निम्नलिखित प्रशंसनीय था।

फ्रेडरिक पिन्काट का जन्म १८३६ ईसवी में इंगलैंड देश में हुआ। इनके पिता की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। इस कारण इनकी शिक्षा का प्रबन्ध जैसा होना चाहिए वैसा नहीं हुआ। कुछ काल में क्वीन एलिजाबेथ ग्रामर स्कूल में पढ़ते रहे। पर थोड़े ही दिनों में इन्हें उस छोड़ना पड़ा। जीवन निर्वाह की चिन्ता ने इन्हें व्यग्र किया। पहले ये एक छापेखाने में कम्पोजीटर हुए और फिर रीडर (प्रूफ पढ़ने वाले) हुए। इससे यह न समझिए कि इनकी शिक्षा का सिलसिला टूट गया। नहीं वह बराबर जारी रहा। आरम्भ से ही पूर्वीय साहित्य की ओर इनकी रुचि थी। वह रुचि ऐसी दृढ़ और पक्की थी कि प्रेस के कमरों में भी वह उसी प्रकार प्रवर्धित होती गई। जिस प्रकार आक्सफर्ड और कैम्ब्रिज के भव्य विद्या भवनों में होती। संस्कृत की चर्चा ये बहुत दिनों से सुनते आते थे। ये सुनते थे कि शब्द शास्त्र और मानव जाति के इतिहास के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से स्थिर करने के लिए संस्कृत का जानना बहुत ही आवश्यक है। इससे इन्हें संस्कृत सीखने की प्रबल इच्छा हुई। उन दिनों जो संस्कृत पुस्तकें योरप में छपती थीं वे बहुत महँगी पड़ती थीं। अतएव पुस्तकें मोल लेने में इन्हें कठिनता पड़ी। संयोगवश एक मित्र की कृपा से इन्हें पुस्तकें मिलने लगीं।

सन् १९०९ का ही एक दूसरा लेख देखिए

हमारा संवत् और उसकी रक्षा

श्री काशी प्रसाद जायसवाल

संवत् देश की सभ्यता का मुख्य चिह्न है देश और जाति के गौरव का स्तम्भ स्वरूप है। संवत् शाका चला लेना अतुल पौरुष की बात है। यह जाति मात्र की शक्ति की बहुत बड़ी कसौटी है। संवत् का महत्व और उसके चलाने का नियम हमने हजारों वर्ष पहले समझा और निर्धारित किया संवत् चलाना, और संवत् चलाया।

लगभग दो सहस्र वर्ष पहले कुछ म्लेच्छ हमारे देश के उत्तरी भाग को दबाये हुये थे। वे वहाँ से धीरे धीरे देश के भीतर चले आ रहे थे उन्हें जमे सैकड़ों वर्ष हो गये थे। इतने में उज्जयिनी में विक्रम के सूर्य का उदय हुआ, जिसके नायकत्व में

हमने म्लेच्छा को कूडे की तरह बटोर और भस्मसात् कर उनसे अपनी ज म भूमि मुक्त कर ली और एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया।

इसे आज १९६४ वप हुए। तभी हमन दश क छुडाने के आन द म साम्राज्य स्थापित करने क सतोप म जातीय विक्रम की स्मति म सवत् रूपी पताका अपने जातीय नायक के नतत्व म स्थापित की। अच्छे काम क अनुकरण म हमारे पुरखा की अतीव प्रीति थी। हमार विक्रमीय सवत् के बाद अनेक दान पुण्य और पवित्र काम करके शालिवाहन न अपना शाका (शक-सवत्) चलाया तथा गुप्त वश आदि ने ऐसी ही प्रतिस्पर्धा की, पर उनकी जाति ने और काल न यह प्रमाणित कर दिया कि हम अपन विक्रम को लाट अपने पुरखा क विजय चि ह को छोड दूसरे चि ह को उसकी जगह अपना नही सकत ।

हमारे सवत् से ५७ वप पीछे ईसाई सन चला। यह विजय की कीर्ति नही है बल्कि मरने के दिन की यादगार है।'

यह लेख भी बडा है अत इतना ही अश देना पर्याप्त है।

आचाय द्विवेदी की सन १९०६ ७ की भापा उनके भापा और 'याकरण' वाल लख म देख ही चुके ह और उसी समय की बाबू बालमुकु द गुप्त की भापा भी उसी प्रकरण मे सामने आ चुकी है। इसके पचास वप बाद की भाषा सामने रखकर मिलान कीजिए कि पचास वर्षों म क्या अ तर पडा।

सन १९५८ म डा० श्री कृष्ण लाल जी की भापा देखिए—

'आचाय महावीर प्रसाद द्विवदी न सरस्वती' क सम्पादक होने के पश्चात अनुभव किया कि हि दी भापा म अस्थिरता आ गई है। हि दी क विस्तत भू-खण्ड म जो साहित्य की रचना हो रही थी, उसम एकरूपता का नितात अभाव था। बात यह था कि भारत दु युग की प्रतिमित (स्टैंडड) हि दी भापा अधिकाश उच्चारण सम्मत और तद्भव प्रधान थी। हि दी का यह दावा रहा है कि इसमें जो लिखा जाता है वही पढा जाता है और जो बोला जाता है वही लिखा जाता है। इस दावे के अनुसार भारतेन्दु युगीन साहित्य में बोलचाल की भापा का जसा उच्चारण होता था, वसा ही लिखा भी जाना था। हि दी एक बहुत ही विस्तृत भूखण्ड की भापा थी, इस कारण एक प्रा त में किसी श द का जो उच्चारण होता था दूसर प्रा त का उच्चारण उससे भि न होता था। अस्तु, एक ही शब्द भि न भि न क्षेत्र में भिन्न भिन्न रूप म लिखा जाता था। इसी प्रकार तद्भव श दो के प्रा तज प्रयाग भी अ य प्रान्ता की जनता के लिए बोधगम्य नही रह गए थे। द्विवेदी जी ने इस विस्तृत भू-खण्ड की भापा म एकरूपता और स्थिरता लाने क लिए व्याकरणसम्मत भापा लिखन का आ दोलन प्रारम्भ किया।

सरस्वती के नवबर १९०५ म 'भापा और व्याकरण' शीपक एक महत्वपूण

लेख लिख कर यह दिखाने का प्रयत्न किया कि हिन्दी के लेखक गण लिखते समय व्याकरण की ओर ध्यान नहीं देते। द्विवेदी जी के इस लेख की प्रतिक्रिया स्वरूप एक आन्दोलन-सा प्रारंभ हो गया। भारत मित्र के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने—इस लेख में भारतेन्दु युग के लेखकों की जो व्याकरण सम्बंधी भूलें द्विवेदी जी ने निकाली थी उसे लेकर नौ दस लेख 'भारत मित्र' में आत्माराम के नाम से छपवाए, और उसके उत्तर में गोविन्द नारायण मिश्र ने आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख लिख कर गुप्त जी के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया था।[1]

भाषा वही है शैली में चाहे जो भेद हो। लिंग-वचन तथा क्रियाओं के काल आदि विचारणीय हों पर भाषा के रूप में कोई अन्तर नहीं। हिन्दी शब्दानुशासन का प्रकाशकीय वक्तव्य डा० श्री कृष्ण लाल का लिखा हुआ है। उसी से ऊपर का उद्धरण लिया गया है। यह ग्रन्थ १९५८ में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है। उसकी भी बानगी लीजिए—

संस्कृत का व्याकरण शास्त्र केवल प्रकृति प्रत्यय का विधान मात्र नहीं है। वह अपने आप में परिपूर्ण दर्शन है। उसका रहस्य जानने वाला भाषा मात्र का रहस्य समझता है।

आधुनिक भाषा विज्ञान ने कई बातों में बड़ी उन्नति की है किन्तु प्रत्येक भाषाशास्त्री संस्कृत व्याकरण की अत्यन्त परिष्कृत विचार शैली का महत्त्व स्वीकार करता है। वाजपेयी जी ने उस व्याकरण शास्त्र की निर्मल दृष्टि पाई है। आधुनिक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों की व कहीं-कहीं आलोचना कर गए हैं पर वस्तुत वह भाषाविज्ञानियों के व्यक्तिगत रूप से गृहीत निष्कर्षों का विरोध है भाषा विज्ञान का नहीं। वाजपेयी जी का यह ग्रन्थ हिन्दी-व्याकरण को एक नए परिपार्श्व में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निष्कर्ष तक पहुंचने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से सहृदय विद्वानों को सोचने को बाध्य करेगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिंदी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गए हैं वे प्रयोग निर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्व दर्शन का स्वरूप प्रकट हुआ।[2]

डा० श्री कृष्ण लाल की और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा एक ही है परन्तु स्थिति और शैली में भेद स्पष्ट है। इसी ग्रन्थ में स्वयं वाजपेयी जी की भाषा उपयुक्त दोनों विद्वानों की भाषा से 'शैली में भिन्न है—तत्त्वत एक ही है—

१ हिन्दी शब्दानुशासन प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ठ ६
२ हिन्दी शब्दानुशासन भूमिका पृ० १२

जिस भाषा का यह व्याकरण है उसका जन्म जन्मस्थान, विकास क्रम आदि समझ लेने से आगे बडी सुविधा मिलेगी और प्रतिपाद्य विषय सामने खिलने लगेगा। इसलिए वैसी कुछ प्रासंगिक चर्चा अत्यन्त संक्षेप में यहा की जायगी।

हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहा है जो कि वेदो मे, उपनिषदों में तथा वाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य ग्रंथो में उपलब्ध है। 'करोति' से 'करता है' एकदम कैसे निकल पडेगा? 'राम करोति' की तरह 'सीता करोति' भी संस्कृत में चलता है परन्तु हिन्दी में लडका करता है चलता है खाता है और लडकी करती है चलती है खाती है होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि कर, चल, खा शब्द रूप, संस्कृत के कृ, चल, खाद से मिलते जुलते हैं परन्तु मेल जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से चलता है निकल पड़ा। दोनो की चाल एकदम अलग अलग है। रबडी में और दही में श्वेतिमा समान है। रासायनिक विधि से विश्लेषण करने पर प्रत्यक्ष हो जाएगा कि दोनो पदार्थों का मूलतत्व एक ही है। परन्तु यह सब हो जाने पर भी यह कोई न कहेगा कि रबडी से दही बना है। इतना ही कहा जायगा कि जिस मूल पदार्थ से रबडी बनी है, उसी से दही बना है।

यही स्थिति संस्कृत और हिन्दी की है। दोनो का पृथक् और स्वतन्त्र विकास हुआ है, परन्तु हैं दोनो ही मूल भाषा की शाखाएं।[1]

देखिए, डा० श्रीकृष्ण लाल डा०हजारी प्रसाद द्विवदी और स्वय वाजपेयी जी की सन् १६५८ में, एक ही ग्रंथ में लिखी भाषा शैली भेद रखती है, परन्तु स्वरूप वही है जो १६०८ में 'सरस्वती के लेखों में है और 'सरस्वती' के उन लेखो की भाषा में तथा आचार्य द्विवदी की उस समय की भाषा में कोई अन्तर नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि पचास साठ वर्षों में भाषा का रूप कुछ भी नहा बदला और आगे शताब्दियो तक न बदलेगा। भाषा का रूप रंग सहस्राब्दियो में इतना बदलता है कि जो साफ नजर आए। तब अगली भाषा का नाम भी अलग रख लिया जाता है। दो चार सौ वर्षों में भाषा नहीं बदला करती है और साहित्यिक भाषा तो और भी अधिक दिन तक एक रूप रहती है। हा, साहित्यिको के विचार भेद रुचि भेद या अज्ञान से कुछ भिन्नरूपता आ जाती है। अज्ञान से जो रूप भेद होता है उसका निराकरण अपेक्षित होता है। विचार भेद से जो भाषा भेद होता है उसका भी परीक्षण होता है। जो रूप भाषा की प्रकृति के विरुद्ध होता है वह स्वत आगे नहीं बढता। भाषा में स्वय निखार हो जाता है। यदि विकार गहरा हुआ और स्वत निखार न हुआ तो परिष्कार की जरूरत होती है। यह सब साहित्य रचना के प्रारम्भ में ही होता है। एक बार भाषा का निखार परिष्कार पूर्ण हो जाने पर

१ हिन्दी शब्द पूर्वानुशासन भूमिका।

फिर चिरकाल तक वही रूप साहित्य में चलता है।

आचार्य द्विवेदी ने भाषा में विभक्तियों के समुचित प्रयोग की व्यवस्था की, वचन वर्ग आदि की भी व्यवस्था की। भाषा अपने रंग में आ गई परन्तु विवेचन वैसा नहीं हुआ था। वह काम आचार्य वाजपेयी ने आगे किया। चाहिए की जगह 'चाहिये' आचार्य द्विवेदी ने पसन्द किया पर इसकी विवेचना से पुष्टि की आचार्य वाजपेयी ने। इस तरह 'गायेंगे' जायेंगे आदि का विवेचन आगे हुआ।

द्विवेदी जी की भाषा के एक आलोचक

आचार्य द्विवेदी के कुछ शब्दों की आलोचना या तो बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने की थी और या फिर पचास वर्ष बाद श्री उदयभानु सिंह ने की, अपने ग्रन्थ—'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में। गुप्त जी ने दो चार ही शब्द पकड़े थे, पर सिंह महोदय ने तो द्विवेदी जी के गलत शब्द प्रयोगों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ ही तैयार कर दी।

डा० सिंह ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि द्विवेदी जी के ज्ञान की कमी और प्रूफ संशोधन के प्रमाद के कारण उनकी भाषा में त्रुटियाँ या अधिकता हो गई है।[1]

ज्ञान की कमी के उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं कि हिन्दी ने 'कागज' कानून जरूरत' जबान' 'कबूल आदि को अपनाया है कागज 'कानून जरूरत जबान या कबूल आदि नहीं।

द्विवेदी जी को चाहिए था कि उर्दू (या फारसी आदि ?) के शब्द ग्रहण करने में गोस्वामी जी की आदर्श पद्धति का अनुगमन करते।[2]

आचार्य द्विवेदी जी की इस पद्धति का अनुसरण डाक्टर श्यामसुन्दर दास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने भी किया है। द्विवेदी जी जब संसार से चले गए तब सन् १९५० में डाक्टर साहब की यह नसीहत उनके किस काम की ? फिर एक बात और भी है। यदि डाक्टर हिन्दी में शुद्ध है तो फिर कागज आदि से वैसी नफरत क्या ? डाक्टर सिंह का यह लिखना है कि "उनका हिन्दी भाषा और साहित्य का ज्ञान भी अपरिपक्व था। अतएव उनकी उपयुक्त प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा का रूप का-प्रमय और निखरा हुआ नहीं है।[3]

उस समय जब हिन्दी की नींव लगाई जा रही थी तब हिन्दी भाषा और साहित्य का ज्ञान आचार्य द्विवेदी से अधिक परिपक्व किसका था ? प्रूफ के कारण उनके ज्ञान की कमी की ओर इंगित करना सर्वथा अनुचित है। उन दिनों हिन्दी के

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ १९२ १९३
२ „ पृष्ठ २४८
३ „ पृष्ठ १०८

कदाचित् इतने पाठक भी न रहे होंगे जितने आज आलोचक, कवि लेखक और वक्ता है। हिंदी के लेखकों की संख्या तो बहुत ही कम थी। फिर भी जितने थे वे बहुत ही उत्साह और लगन से तथा विशुद्ध हिंदी सेवा की भावना से भरे थे।'[1]

कुछ इसी तरह हिंदी की 'सेवा' हो रही है। 'जरूरी' 'बाजार' आदि शब्द हिंदी में चल रहे थे। 'भ्रमों' ने कहा—शुद्ध शब्द 'जरूरी' 'बाज़ार' आदि हिंदी में लिखे जाया करें। बात मान ली गई, पर सभी हिंदी वाले फारसी नहीं पढ़े हैं और हिंदी में घुले मिले (फारसी आदि के) शब्द छोड़े भी नहीं जा सकते। 'हाजत हो तो इधर चले जाना' यहां 'हाजत' शब्द की जगह हिंदी का कौन सा शब्द दिया जाए? परन्तु 'हाज़त' लिखा बोला जाएगा 'हाजत'। नीचे बिन्दी लगाई जाए या नहीं यह समस्या उलझी और संस्कृत 'कफ' का भी लोग 'कफ़' लिखने लगे। तब एक ऐसा व्यक्ति सामने आया जो उर्दू फारसी कतई नहीं जानता, पर हिंदी लेखक है। उसने बीस वर्ष तक संघर्ष किया, तब फिर 'बाजार' 'जरूरी' जैसे शब्द चलने लगे।

इस युग में ही डाक्टर उदयभानु सिंह जी ने अपना मत प्रगट किया कि आचार्य द्विवेदी को 'कागज़' नहीं 'कागद' लिखना चाहिए था,[2] हां, 'बाजार' को 'बादार' न लिख कर 'बाजार' लिखना ठीक है। हिंदी में 'बाजार' चलता है। तुलसीदास ने 'कागद' लिखा है—'सरय कहौं लिखि कागद कोरे'। परन्तु डाक्टर सिंह का मत लोग न मानेंगे 'कागद' न लिखेंगे। अवध में 'कागद' बोलते हैं हिंदी की जन्मभूमि (देहली आदि) में नहीं।

कुछ भी हो डाक्टर सिंह ने सलाह अच्छी दी है। 'कागज़' नापसन्द करके भी उन्होंने 'डाक्टर' इसलिए पसन्द किया कि आगे लोगों को हिंदी परिष्कार का अवसर मिले। 'परिष्कार' का काम चलता ही रहना चाहिए।

द्विवेदी जी ने संस्कृत शब्द भी गलत लिखे

डाक्टर सिंह ने लिखा है कि द्विवेदी जी 'श्रीमान्' की जगह 'श्रीमान' गलत लिख गये हैं। द्विवेदी जी 'विद्वत्ता' की जगह 'विद्वता' गलत लिख गए हैं। यह भी डा० सिंह ने बताया और लिखा है—

'संस्कृत शब्द है 'विद्वत्' और हिंदी में 'विद्वान्' या 'विद्वान'। 'ता' प्रत्यय के योग से 'विद्वत्ता' 'विद्वान्ता' या विद्वानता शब्द ही बन सकते हैं, विद्वता नहीं। 'विद्वान्ता' और 'विद्वानता' असाधु हैं, 'विद्वत्ता' ही व्याकरण संगत है।'[3]

१ मेरा साहित्यिक विकास—आचार्य रामचन्द्र वर्मा
२ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २४८
३ " " , पृष्ठ २०१

डाक्टर सिंह सम्कृत भाषा के महान् विद्वान् हैं तभी तो ऐसा विवेचन किया है। उनकी विद्वत्ता का सबसे उत्तम प्रमाण यह है कि उन्होंने सस्कृत में प्रराग्य प्रानि पत्ति की खोज कर डाली है। वे कहते हैं—

'एक और अरोग्य में ष्यञ् प्रत्यय लगने से ...य और 'प्राराग्य' भाव वाचक शब्द बनता है। प्रत्ययों के प्रयोग में द्विवेदी जी ने भूलें की हैं।[1]'

डाक्टर सिंह ने द्विवेदी जी की संस्कृत कविताएँ शायद नहीं देखी हैं, जो उन्होंने सरस्वती की सेवा में आने से पहले लिखी थी। यदि डाक्टर सिंह की नजर उन कविताओं पर पडती तो वहाँ भी उन्हें गलतियाँ दिखाई देतीं। नीचे हम द्विवेदी जी के कुछ सस्कृत पद्य दे रहे हैं। द्विवेदी जी की कविताओं का एक छोटा सा सग्रह उनके प्रिय शिष्य श्री मैथिली शरण गुप्त ने संवत् १६८० में अपने साहित्य प्रेस (चिरगाव झाँसी) से प्रकाशित किया था। वहीं से कुछ सस्कृत पद्य यहाँ दिए जा रहे हैं। यदि इनमें इतनी गलतियाँ न हों कि पढ़ते ही कुछ मालूम हो सके तब तो कोई बात ही नहीं अन्यथा महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग के अगले संस्करण में इन पद्यों की गलतियों का भी उल्लेख डाक्टर सिंह कर देंगे, जिससे लोगों को मालूम हो जाए कि जो 'श्रीमान' और 'विद्वत्ता' भी ठीक ठीक नहीं लिख सकता उसने सस्कृत कविता बनाने का तमाशा लोगों को दिखाया।

जनवरी १८८५ में द्विवेदी जी ने शिवाष्टक लिखा था। उसके दो पद्य लीजिए—

शीतांशु शुभ्रवलया कलितोत्तमाङ्गम्
ध्यानस्थित धरणिभृत्त नयार्चित तम।
कालानलोपम हलाहल कृष्णकण्ठम
विश्वेश्वर कलिमलापहर नमामि।

× × ×

त्रैलोक्य मतदखिल ससुरासुर च
भस्मीभवद्यदि न यो ह्यपयाद्रचित्त।
पीत्वाऽहरदगरलमाशु भय तदुत्थम
विश्वावन कनिरताय नमोस्तु तस्म।

जनवरी १८६६ में 'प्रभात वर्णनम' में लिखे दो पद्य लीजिए—

ममाऽचिरात सम्भविता समाप्ति
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।

1 महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ २०१

उप प्रकाशप्रतिभा मिषेण,
विभावरी पाण्डुरता बभार।

× × ×

क्व मामनान्त्य निशाधकार
पलाय्य पाप किन्न यास्यनीति।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु
रङ्गाररूप सहसाऽऽसीत।

जनवरी १८९८ में कान्यकुब्जलीलामृतम् सामाजिक रचना लिखी। अड़तीस पद्यों में सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार है। प्रारंभ है—

सदव शुक्लाम्बरपीतवर्ण
पाटीरपङ्काङ्कित सर्वभाल।
अभूतनालम्बितुन्दिल धारिन
श्री कान्यकुब्जद्विज तं नमाम्यु।

× × ×

शास्त्रीयवार्तासु सदस्यहा ते
मुखे रसना किल कीलितेव।
स्थित तु ववाहिक भाषणे स्वम
प्राविष्करोप्यद्भु तवाक्पटुत्वम्।

फरवरी १८९८ में समाचार पत्र सम्पादकस्तव द्विवेदी जी ने लिखा। खूब स्तुति की है। बानगी लीजिए—

देशोपकार व्रत धारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय
निशेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिमंमास्तु।

× × ×

गृह्णामि सम्पादकता यदैव
तदैव शास्त्राणि सुविस्तराणि।
भाषा समस्ता सकला कलाश्च
त्वा त्वदमयनव समाश्रयन्ति।

फरवरी १८९८ में सूर्य ग्रहण लिखा गया। विक्रम संवत् १९५४ के माघ महीने में अमावस्या को दुपहर के समय सब प्राणी सूर्य ग्रहण देख कर उसका वर्णन तीस पद्यों में द्विवेदी जी ने किया है। इस का सजन प्रारम्भ पद्य बतलाया है

बेन्गुरुाण्डमानिगुम्फित वन्यमीये,
सवत्सर जनपदेऽत्र तदव येमम् ।
दष्टा नमसि सघटनाऽद्भुता ताम्
मित्रानुरोधवशतो ननु वणयामि ।

× × ×

शीततु मध्यगतमञ्जुल माघ मासे
मध्येदिन निकरस्य तनू ममभायाम ।
प्रच्छादयिष्यति धामी नियत निजेन
बिम्बेन तूणमिति पूणतया निरुप्य ।

× × ×

तद्दर्शनाय विदुषामवलि समन्तात
द्वीपान्तरादपि चचाल विलघ्य सिन्धून् ।
नानाविधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि
यन्त्राणि सूयविधुबिम्बपरीक्षकाणि ।

× × ×

विज्ञानशास्त्र कुशला विबुधा अनेका
उच्चोच्च राजपुरुषा अपि गौर काया ।
सिद्धि विधाय रविवीक्षण साधनानाम
तस्थुयदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ ।

इसी तरह प्रयोमितया आदि भी द्विवेदी जी ने लिखी हैं। यहाँ इस तरह की चीजें अधिक देना बेकार है।

डा० सिंह ने द्विवेदी जी की वाक्य रचना पर भी विचार किया है। कुछ नमूने लीजिए—

१ डा० सिंह वाक्य रचना बताते है— यदि किसी वाक्य मे एक ही क्रिया के अनेक कर्ता हो तो उनका लिंग अन्तिम कर्ता के अनुसार होता है।'[1]

डा० सिंह का मतलब है क्रिया के कृदन्त अश से। तिङन्त क्रिया म लिंग भेद होता ही नही है—लडका खडा है लडकी खडी है। खडा-खडी कृदन्त अश हैं। है *तिङन्त क्रिया समान है जसे संस्कृत में— बालक स्थित अस्ति बालिका* स्थिता अस्ति ।

यह सिद्धान्त बतला कर डा० सिंह द्विवेदी जी की गलती सुधारते है—
बाएँ रीछ अथवा बन्दर और सामने बकरी खडे हैं म खडे हैं अशुद्ध है।

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ १६६

'खड़ी हैं होना चाहिए।"[1]

यानी डा० सिंह तुलसीदास की भाषा का भी संशोधन कर रहे हैं जिन्होंन 'देखि रूप मोहे नर नारी' लिखा है। डा० सिंह कहेंगे कि 'मोहे' गलत है, अंतिम कर्ता (*नारी*) के अनुसार *मोही* क्रिया होनी चाहिए।

और डा० सिंह इस वाक्य को भी गलत बतलाते हैं—'कश्यप और अदिति प्रणाम करते है'। वे कहते हैं—'प्रणाम करती हैं' क्रिया होनी चाहिए अंतिम कर्ता (अदिति) के अनुसार।[2]

लेकिन डा० सिंह यह भूल गए कि स्त्रीत्व-पुंसत्व जहां वास्तविक हो वहाँ *सामान्य प्रयोग (पुंवग से) होता है। बन्दर, रीछ और बकरी शब्दों के वाच्य सजीव* हैं। उनमें पुंसत्व और स्त्रीत्व वास्तविक है। ऐसी जगह दोनों वर्गों के लिए सामान्य प्रयोग (पुंवग से) होता है—'नर नारी मोहे' 'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं' इत्यादि। बन्दर, रीछ और बकरी पानी पी रहे थे इत्यादि। जहां पुंसत्व-स्त्रीत्व इस तरह प्रकट न हो, वहाँ अंतिम कर्त्ता के अनुसार ठीक—'उद्यान में फल फूल और लह-लहाती लताएँ देखो' इत्यादि। यह बात और है कि वैसे वाक्यों में पुंवर्गीय कर्ता अन्त में दे दिया जाए तो और अच्छा, डाक्टर सिंह जैसे लोग भ्रम में न पड़ें—'बकरी' रीछ और बन्दर खड़े हैं'। परन्तु 'नर नारी मोहे' को क्या करेंगे? 'नारी नर मोहे' कहने का चलन नहीं है। 'अदिति और कश्यप प्रणाम करते है' भी ठीक नहीं जमता। डाक्टर सिंह ने इन सब बातों पर ध्यान नहीं दिया।[3]

२ 'द्विवेदी जी ने अपना साहित्यिक अध्ययन संस्कृत से ही आरम्भ किया था और तत्पश्चात् हिन्दी में आए थे। इस प्रकार के प्रयोग उसी संस्कार के परिणाम हुए हैं।'[4]

द्विवेदी जी ने संस्कृत से साहित्यिक अध्ययन आरंभ किया था। उसी का परिणाम है कि हिन्दी में वैसी गलतियाँ कर गए और 'श्रीमान्' की जगह 'श्रीमान' तथा 'विद्वत्ता' की जगह विद्वता लिख गए। जो संस्कृत अध्ययन किए बिना ही हिन्दी पढ़ते हैं वे (*बच्चे भी*) *श्रीमान* और *विद्वत्ता* को 'श्रीमान विद्वता' कभी भी न लिखेंगे।

'अध्ययन आरंभ किया था' याद रखिए, आगे काम आएगा।[5]

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ १९६
२ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग
३ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा पृष्ठ ११२ ११३
४ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ २००
५ वही पृष्ठ २००

डाक्टर सिंह का मत है कि द्विवेदी जी ने 'वह चल दिया' जैसे गलत प्रयोग किए हैं। वे कहते हैं 'वह' की जगह द्विवेदी जी को उसने लिखना चाहिए था—उसने चल दिया।

हम लोग गलत हैं—जब तब 'रेल गाडी चल दी'। डाक्टर सिंह चाहते हैं कि ऐसा बोलना गलत है। शुद्ध बोलना चाहिए—'रेल गाडी ने चल दिया' या 'रेल गाडी ने चल दी'।

वे नियम समझाते हैं— संयुक्त क्रिया का कर्ता सहायक क्रिया के अनुसार होता है। प्रस्तुत वाक्य (वह चल दिया) में 'दिया' देना क्रिया का सामान्यभूत है और बोलना, भूलना, लाना को छोड कर सामान्य आसन्न पूर्ण और सन्दिग्ध भूत में प्रयुक्त अन्य सभी सकर्मक क्रियाओं के कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति अवश्य आती है। भाषा के सिद्ध प्रयोग के अनुसार उपर्युक्त अवस्था में 'वह' का 'उसने' हो जाना चाहिए।'[1]

पाठक डाक्टर सिंह के उपर्युक्त लम्बे वाक्य का मतलब जरूर समझ गये होंगे। उनने भूतों में 'ने' का प्रयोग जरूर होता है वैसे भूत और भी बहुत हैं।

सो, गाडी चल दी' की जगह 'गाडी ने चल दिया' या 'गाडी ने चल दी' बोला करो। और 'वह चल दिया' की जगह 'उसने चल दिया' बोला करो।

३ "अपना उदर तो पोषण करते हैं" द्विवेदी वाक्य को गलत बतला कर डा० सिंह कहते हैं—यदि 'पोषण' के स्थान पर 'पोषित' होता तो वाक्य शुद्ध होता।'[2]

पर कोई दूसरा कह सकता है कि 'साहित्यिक अध्ययन आरम्भ किया' डा० सिंह ने गलत लिखा है। 'अध्ययन आरम्भ किया' लिखते तो शुद्ध होता। डाक्टर सिंह क्या उत्तर देंगे? क्या 'श्रवण की' की जगह 'क्या श्रुत की' यह डाक्टर सिंह शुद्ध समझते हैं?

'उदर पोषण करता है' में दूसरी गलती डाक्टर सिंह बतलाते हैं 'उदर' और 'पोषण' दो संज्ञाओं में सम्बन्धी-सम्बन्धित सम्बन्ध ही हो सकता है। दोनों पदों के बीच सम्बन्ध कारक की विभक्ति अवश्य लगनी चाहिए।[3] यह सम्बन्धी सम्बन्धित सम्बन्ध क्या है?

खैर डाक्टर सिंह का मतलब है कि 'उदर का पोषण करता है' परन्तु—

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ २००
२ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ २०३
३ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग पृष्ठ २०३

'साहित्यिक अध्ययन आरभ किया था।'[1] डाक्टर सिंह ने अपने इस वाक्य मे सबध विभक्ति क्यो नही दी ? उन्हे लिखना चाहिए था—

'साहित्यिक अध्ययन का आरभ किया था।

वस्तुत डाक्टर सिंह को पता नही पोषण करता है और आरभ किया था' आदि एक एक क्रियाए है।

'करता और है मिल कर एक क्रिया—करता है। अध्ययन करता है भी एक क्रिया है। पढता है एक क्रिया, 'अध्ययन करता है मात्र क्रिया नही है। ऐसा हमारा मत है।

४ उपरोक्त द्विवेदी जी ने गलत लिखा है यह भी डाक्टर सिंह कहते है। विवेचन देखिए—"उपरोक्त का विग्रह हो सकता है ऊपर+उक्त। परन्तु उपर' कोई शब्द नही है। उससे मिलते जुलते उसी अर्थ के व्यजक दो अन्य शब्द है—सस्कृत का 'उपरि' और हिन्दी का ऊपर। इन दोनो के योग से क्रमश दो शुद्ध सधि रूप हो सकते है—उपयुक्त और उपरोक्त। 'उपरोक्त' सर्वथा अशुद्ध है। फिर भी प्रयोग चल पडा अत मान्य है। उपरोक्त भी शुद्ध है।'

'उपरोक्त का वह विग्रह नही, सधि विच्छेद है डाक्टर साहब! 'उपर' सचमुच कोई शब्द नही है, जसे तिरगा का ति शब्द। हिन्दी म तीन' है और सस्कृत म 'त्रि' है। फिर भी तिरगा चल पडा, इसीलिए मान्य है। हम कहेंगे समास आदि म तीन का रूप ति हो जाता है। सख्यावाचक 'पंच' और 'सत' शब्द भी डाक्टर साहब के मत से नही है और हम कहगे कि समास आदि म पाच का रूप पच और 'सात का सत हो जाता है—पंचरगा सतरगी इन्द्र धनुप'। ऊपर' का उपर' रूप अन्यत्र भी है—सात घडी उपरान्त मुहूत है। 'उपरान्त' को उपय्यन्त' नही कह सकते। मतलब ही न निकलगा। और जब चल पडा' तथा 'मान्य है तब उसमे मीन-मेष क्या ? उसी अर्थ के 'व्यजक वे दोना शब्द नही—वाचक हैं। वाचक और 'व्यजक' मे भेद है।

डाक्टर साहब ने मिलते जुलते' लिखा है। यह 'जुलना क्या चीज है ? जुल' भी तो कोई शब्द नही है न! शब्द तो है, सुन पडता है जुल पर हिन्दी म कहाँ है ? जुड का रूपान्तर जुल है और 'जोड का रूपान्तर 'जोल'—मल जाल बढ रहा है। यही ल' का रूप ड भी होता है—क्या हुडदग मचा रखा है। हालो का सा दगा हुडदग। समास आदि म शब्दो का रूपान्तर हो जाता है। 'जुड और 'जुल' तथा 'जोड और जोल म अर्थ विकास भी है। इसी तरह उपरोक्त' का ऊपर है

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २००

सन् १६५५ तक इतना अधिक और इतना गम्भीर शब्दशास्त्रीय काम वाजपेयी जी ने कर लिया कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अधिक प्रभावित होकर उन्हें आचार्य कहा। कलकत्ते के 'नया समाज'[1] में उनका एक लेख छपा 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी' शीर्षक से। इतना जोरदार और हृदयस्पर्शी लेख न हिन्दी दूसरे लेखक ने आज तक किसी के बारे में लिखा और न स्वयं राहुल जी ने ही किसी दूसरे के बारे में लिखा। राहुल जी ने जब वाजपेयी जी को आचार्य स्वीकार कर लिया तब सम्पूर्ण हिन्दी जगत ने कर लिया और तब काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें सादर आमन्त्रित किया हिन्दी का व्याकरण लिखने के लिए। फलत हिन्दी शब्दानुशासन सामने आया और फिर भारतीय भाषा विज्ञान भी प्रकट हुआ।

इस अध्याय में जो विवेचन दिया जाएगा उसका आधार पहले समझ लेना चाहिए। वाजपेयी जी ने हिन्दी-परिष्कार के कुछ आधार सामने रखे हैं। उनकी चर्चा पहले आवश्यक है।

हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता

हिन्दी एक स्वतन्त्र भाषा है। इसके अपने नियम हैं अपनी पद्धति है। किसी दूसरी भाषा पर यह निर्भर नहीं है यहाँ तक कि संस्कृत से भी मतभेद रखती है। वैसे संस्कृत के जितने निकट हिन्दी है अन्य कोई आधुनिक भाषा नहीं है परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ के सब नियम उपनियम यहाँ ज्यों के त्यों चलने लगें।

संस्कृत में संधियाँ बहुत होती हैं। स्वर संधि में तो नहीं पर व्यञ्जन-संधि बहुत कठिन पड़ती है। हिन्दी ने व्यञ्जनान्त (हलन्त) शब्द अपने गठन में रखे ही नहीं हैं इसलिए व्यञ्जन संधि का झमेला यहाँ बचा है ही नहीं। हिन्दी के प्रातिपदिक (नाम सर्वनाम विशेषण) सब के सब स्वरान्त हैं। संस्कृत से लिए हुए जो शब्द तत्सम' या तद्रूप कहलाते हैं उन्हें भी यहाँ के टकसाल में ढलना पड़ा है धनुष' को अकारान्त 'धनुष बनना पड़ा है। नामन प्रातिपदिक का व्यञ्जन (न) अलग करना पड़ा है। यहाँ नाम प्रातिपदिक है। 'नाम से काम न चलेगा' प्रयोग होगा है— नामन् से नहीं। इसी तरह धामन' का 'धाम और 'नभस' पयस आदि को नभ 'पय आदि रूप मिले हैं। अन्त के ही नहीं, आदि के भी व्यञ्जन बहुधा उड़े हैं यद्यपि नियमत नहीं।

बहुत पुरानी संस्कृत (वेदभाषा) में एक भाववाचक प्रत्यय 'ताति चलता था, शिवताति जैसे प्रयोग होते थे। आगे चल कर संस्कृत में ता प्रत्यय रह गया ति को हटा कर— शिवता' जैसे प्रयोग होने लगे।

लोक भाषा ने ताति के ति से व्यञ्जन मात्र हटा कर ताइ' रख लिया और

---

१ नया समाज—सितम्बर १६५४

अपनी दीर्घान्त प्रवृत्ति के अनुसार 'ताई' कर लिया—'दसी अनुपम सुन्दरताई'।[1] सुन्दरताई'— सुन्दरता'। और आगे 'ताई' का भी आधा व्यंजन उड़ गया— 'आई' प्रत्यय रह गया— तेरी सुघराई की बड़ाई है जगत में[2] और आगे चल कर 'आ' भी उड़ गया 'ई' मात्र भाव प्रत्यय रह गया— सावधानी और होशियारी से काम करो। विशेषणों के अन्त्य स्वरों का लोप और 'ई' से व्यंजना का मेल है। संस्कृत का 'ता' भी चलता है संस्कृत शब्दों में और 'ताई' 'आई' तथा 'ई' भी विकल्प से। परन्तु 'ताई' 'आई' ब्रजभाषा आदि में ही अब चलते हैं हिन्दी में 'ई' चलता है कहीं 'आई' भी 'चतुराई' 'ढिठाई' आदि।

इसी तरह 'भवति' आदि की 'ति' से व्यंजन हट कर 'इ' का ग्रहण है। 'है' धातु 'अस' का रूपान्तर है। ह+इ=है किया। बहुवचन 'हैं'। 'ति' से 'न' 'त' दोनों हटा कर स्वर का अनुनासिक कर लिया— हैं। ह+इं=हैं। इस तरह करण आदि में लगने वाली 'भिस्' के आद्य व्यंजन का लोप करके 'इस' रूप और 'इ' को 'ए' करके 'एस'। वर्ण व्यत्यय से स+ए=से विभक्ति। चाकू से कलम बनाओ' कभी कहीं संस्कृत में भी 'भिस्' का 'भ' उड़ जाता है और 'इस' का 'एस' रूप हो जाता है, जिस का निर्देश पाणिनि ने किया है 'अतो भिस ऐस्'। बालक+ऐस= बालकैस् 7 बालकैः। पाञ्चाली में 'भिस' के अन्त्य व्यंजन का लोप और 'भि' को फिर 'में' रूप— चाकू में नाइ कटति है— चाकू से नहीं कटता है'। अपादान के 'भ्यस' से भी आद्य व्यंजन का लोप और 'य' 'इ' 'ए'। 'एस' का वर्णव्यत्यय से रूप शहर से आ रहा हूं। एस से 'से' कर लेने का मतलब यह है कि संज्ञा विभक्तियां में स्वर आदि न रहे। इसीलिए कर्ता कारक में लगने वाली 'इन' को वर्णव्यत्यय और गुण संधि करके 'ने' रूप 'बालकेन पीतम्' 'बालक ने पिया'। क्रिया विभक्ति 'इ' से ली केवल 'ह' में लगा कर 'है' रूप बना लिया। परन्तु 'इन' तो अनन्त जगह लगने को है। 'ने' न कर लिया जाता, तो 'बालक इन पिया' 'इन इन पिया' 'उन इन पिया' जैसे भटपटे प्रयोग होते। संधि करते तो बखेड़ा और भी बढ़ता। इसलिए सीधी 'ने' विभक्ति।[3]

सारांश यह है कि भाषा की प्रवृत्ति सरलता की ओर है और इसीलिए व्यंजनान्त शब्द बिलकुल नहीं कहीं कहीं आद्य व्यंजन का भी लोप। यह संस्कृत से स्वरूपगत भेद। इधर आधुनिक काल में 'पश्चात्' 'श्रीमान्' जैसे संस्कृत तत्सम तद्भव (व्यंजनान्त) चलने लगे, सो अलग बात है और पद्धति भी संस्कृत से भिन्न है। जहां तक कोई कठिनाई नहीं, एक पद्धति और जहां कठिनाई दिखाई दी, कि अपनी भिन्न पद्धति—

१ हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ १३६
२ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन पृष्ठ ३६३ ३६४
३ हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ५६३ ५६४

राम गानी गा, गाता गृह गता
राम गानी गया गीता घर गई

एक पद्धति है। और—

रामण गीतया वानरान् फलानि भुक्तानि
राम ने सीता न और वानरा न फल खाए

यहा भी एक पद्धति है परन्तु—

जनकन पुत्र आहून पुत्री आहूना
जनक ने पुत्र का बुलाया पुत्री को बुलाया

यहाँ पद्धति भेद है। पुत्र का भी बुलाया और पुत्री को भी 'बुलाया।

इसी तरह—

पिता पुत्रम पश्यत पुत्र पितरम पश्येन
पिता पुत्र को देख, पुत्र पिता को देखे

समान पद्धति है। कम कारक सविभक्तिक हैं।

'पुत्र को पिता को'।

परन्तु यहाँ भिन्नता है—

पत्नी गृहम पश्येत पति बहि कायम पश्येत—पत्नी घर देखे पति बाहर का काम देखे। हिन्दी म देखे 'घर' तथा 'काम' के आगे विभक्ति (को) नहा है। यह भेद क्या? इसका वज्ञानिक कारण है। पिता पुत्र को देखे और पुत्र पिता को देखे' आदि म 'को' न लगा कर पिता पुत्र देखे और पुत्र पिता देख कहने से भ्रम हो सकता है कि कौन किसे देखे। 'मोहन सोहन को देखता है स्पष्ट प्रयोग है पर 'मोहन सोहन देखता है' गडबड। पता नहीं देखने वाला मोहन है, या सोहन। परन्तु 'मोहन घर देखता है म कोई भ्रम नही। घर के आखें ही नही हैं कि उसमें कत त्व का भ्रम हो। तब अनावश्यक चीज क्या चिपकाई जाए। ये सब ऐसी बातें व्याकरण की हैं। यहा प्रासगिक चर्चा कि हिन्दी की पद्धति सस्कृति से भिन्न भी है। सस्कृत मे सवत्र विभक्ति प्रयोग है हिन्दी म यथावश्यक। सस्कृत मे यत्र-तत्र तथा 'यथा तथा आदि निर्विभक्तिक प्रयोग भी होत हैं। कभी-कभी सस्कृत शब्द लेकर हिन्दी ने अपनी विशेष चीज तयार कर ली है। सु तथा 'अवसर लेकर अपना पद सु अवसर चलता है। इसी तरह एकत्र तथा 'इत (तद्धित प्रत्यय) सस्कृत के लिए और एक त्रित अपना विशेषण बना लिया। 'एकत्र भीड एकत्रित थी अपरत्र सुनसान था।

आज कुछ लोग 'एकत्र' को ही हिन्दी म विशेषण के रूप मे लिखने लगे हैं जो गलती है। सस्कृत मे भी एकत्र विशेषण नही है। वहाँ अत्र तत्र' आदि से तद्धितीय 'त्य' प्रत्यय जुड कर विशेषण बनते हैं—अत्रत्यानि फलानि' तत्रत्या पुरुषा' यहा के

फल, वहाँ के पुरुष। यानी 'त्य का काम हिंदी ने अपने क' से ले लिया। परन्तु संस्कृत अव्यय के आगे अपनी विभक्ति हिन्दी नहीं लगाती। 'यहाँ के फल' की जगह 'अत्र के फल' और 'वहाँ के पुरुष' की जगह 'तत्र के पुरुष' हिन्दी को स्वीकार नहीं। हाँ, संस्कृत एकत्र से संस्कृत प्रत्यय 'इत' जोड कर 'एकत्रित' अपना विशेषण जरूर बनाया है। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं चलता न चले। वहाँ 'एकत्र' से 'त्य' प्रत्यय भी नहीं होता। 'एकत्रत्या पुरुषा' नहीं चलता 'समवेता पुरुषा' जैसे प्रयोग होते हैं।

साहित्यिक भाषा में लिखावट की एकरूपता

किसी भी साहित्यिक (व्यापक) भाषा में शब्दों की लिखावट (वर्ण विन्यास तथा वतनी) में एकरूपता आवश्यक होती है भले ही कहीं उच्चारण भेद है। आचार्य वाजपेयी ने इस परम्परागत सिद्धान्त पर बल दिया और इसी पर आगे चल कर हिन्दी-परिष्कार का उन्होंने उतना काम किया। केवल हिन्दी के ही लिए नहीं सभी व्यापक साहित्यिक भाषाओं के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्दों का उच्चारण देश भेद या प्रदेश भेद से भिन्न होता है, जैसे शिक्षा का अंग्रेजी पर्याय शब्द कहीं 'एजूकेशन' बोला जाता है और कहीं 'एड्यूकेशन'। परन्तु लिखावट में कोई अन्तर नहीं। बोलने में दोनों ही जगह के लोग एक दूसरे की भाषा मजे से समझते हैं कोई अड़चन नहीं पड़ती। परन्तु यदि लिखावट में (उच्चारण के आधार पर) भिन्नरूपता आ जाती तो भाषा की व्यापकता नष्ट हो जाती, भाषा भेद-सा उपस्थित हो जाता। मतलब निकालना कठिन हो जाता है।

इसी तरह संस्कृत के पूरबी विद्वान बोलते हैं—

'जे जथा मा प्रपद्यन्ते'

और

'खटकर्णो भिद्यते मन्त्र'

परन्तु लिखते वैसा ही हैं, जैसा कि दूसरे—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'

तथा—

'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र'।

अपने उच्चारण के अनुसार लिखावट नहीं करते। वैसा रूप बना देने से भाषा ही बिगड जाए। हाँ व्रजभाषा आदि के साहित्य में जन-भाषा का रूप ही 'य'-'ज' के लिए चलता है—'जोगी जुगत को सब खेल'। यहाँ 'योगी' नहीं चलता। 'संयोग' का 'संजोग' चलता है पर 'वियोग' का 'बिजोग' नहीं चलता 'बियोग' चलता है। 'वि' का रूपान्तर 'बि' और 'यो' ज्यों का त्यों। 'बिजोगी' न कोई बोलता है, न कोई लिखता है। यह भाषा की प्रवृत्ति है। परन्तु संस्कृत में 'य यथा' को कोई भी 'जे

जया नही कर सकता। बगाली संस्कृत पण्डित भी माध्यम को ज ही बोलते हैं पर लिखते हैं य से ही।

वे 'यथा' को 'जोथा' जसे बोलते हैं पर लिखते हैं यथा ही। इसी तरह दाक्षिणात्य विद्वानो के उच्चारण म भिन्नता है पर लिखने म पूर्ण एकरूपता।

हिन्दी भी व्यापक साहित्यिक भाषा है और आज अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार भाषा है। देश भेद और प्रदेश भेद से हिन्दी क शब्द भिन्न रूपो म लोग बोलते हैं। दक्षिण भारत के भाई हिन्दी बोलते समय अछूत क 'छ' की जगह च बोलते हैं पर हम लोगो के समझने म जरा भी दिक्कत नही पडती। लिखते वे भी अछूत ही हैं। यदि कोई उच्चारण के अनुसार ही वर्ण विन्यास करने का आग्रह करे, तो समस्या सामने यह आएगी कि हिन्दी जसी व्यापक भाषा के लिए मानक उच्चारण कहाँ का माना जाए। क्या हिन्दी के उदगम क्षेत्र (कुरुजनपद) म उच्चारण का आदश मान लिया जाए। ऐसा करने पर तो उच्चारण क अनुसार वाक्य विन्यास कुछ इस तरह के हो जाएँगे—

मेरी धोत्ती लेत्ते आना, गिठी भी लाणी है।

तब वह सब साहित्य गडबडी म पड जाएगा जहाँ लिखा है—

मेरी धोती लेते आना अगीठी भी लानी है।'

इसी तरह कुरुजनपद म बोलते हैं—

काडा स्या साँप निकडा

अन्यत्र बोलते है—

काला स्याह साँप निकला

तब कुरुजनपद का उच्चारण व्यापक हिन्दी भाषा म ग्रहण करके तदनुरूप वर्ण विन्यास करने से कसा उत्पात मचेगा? हिन्दी ने कुरुजनपद का उच्चारण छोड कर व्यापक धोती लाना काला निकला जसा उच्चारण अपनाया और वही अब कुरुजनपद (मेरठ आदि) म भी साहित्यिक जनो द्वारा गृहीत है। हाँ, ग्रामगीतो म ड जरूर चलता है। यह 'ड' ल का उच्चारण बहुत पुराना है। ऋग्वेद क प्रथम मन्त्र मे ही यह आ गया है—अग्नि मीडे पुरोहितम। आजकल सस्कृत मे ड उच्चारण नही है 'ड' चलता है ईडे। परन्तु भाष्यकार सायण न लिखा है कि किसी किसी शाखा म ईले पढा जाता है। ड जसा उच्चारण प्रकट करने के लिए ल ऐसा लिपि सकेत है जो मराठी म आज भी प्रचलित है। कुरुजनपद की भाषा म उसका उच्चारण यो हो सकता है—साला जालापुर निकल गया। परन्तु थोड से भू भाग मे ही ऐसा उच्चारण है अन्यत्र ल हो चलता है। इसलिए लिपि से ल हट गया और ल ही चला। फिर भी 'गुड' आदि म ड की जगह लोक भाषा म गुड ही बोलते हैं गौड को गौड।

कुरुजनपद मे जितना गुड पैदा होता है, भारत मे अन्यत्र कही नही। यह 'गुड प्रदेश' है और यहा के ब्राह्मण 'गौड ब्राह्मण'। हिंदी मे 'गुड' और 'गौड' उच्चारण है। सस्कृत म 'गुड' 'गौड' नही लिख सकते।

सो, व्यापक साहित्यिक भाषा मे उच्चारण भेद से लिखावट (वतनी या अक्षरौटी) म भेद नही कर सकते। इसी सिद्धान्त से हिंदी म 'जरूरत' और 'डाक्टर' जसे वण विन्यास गलत हैं।[1] आचाय वाजपेयी इसी सिद्धान्त पर चले है जो हम उपयुक्त प्रतीत होता है।

भाषा भेद से शब्द–भेद

जब किसी भाषा के रूप म इतना परिवतन हो जाए कि स्पष्ट भेद जान पडे, तो (रूप भेद के कारण) नाम भद भी हो जाता है। प्राकृत, अपभ्रंश हिंदी आदि नाम ऐसे ही हैं। प्राकृत का रूपान्तर अपभ्रंश और अपभ्रंश का रूपान्तर हिंदी। दूध का रूपान्तर दही और दही का रूपान्तर मटठा। रूप रग म ही नही, स्वाद म भी अन्तर आ जाता है।

हिंदी लोक भाषा है, प्राकृत-परम्परा म है और कोई भी लोक भाषा आवश्यकतानुसार अपने सग साथ चलने वाली किसी दूसरी भाषा स शब्द ग्रहण करती है। हिन्दी ने भी अन्य भाषाओ से शब्द ग्रहण किए हैं परन्तु सब से अधिक प्रभाव इस पर सस्कृत का है। सस्कृत सभी लोक भाषाओ क अक्षय एव अभय कोष है। वही से सब का काम चलता है। परन्तु तो भी इन लोकभाषाओ की अपनी स्थिति है, अपना प्रवाह है, अपने नियम ह। सस्कृत के सब नियम यहा नही चल सकते, चलते तो फिर यह दूसरी भाषा ही न कहलाती। बहुत थोडा अन्तर पड गया है। 'वह सो गया', 'राम काशी से चल पडा' जसी क्रियाएँ सस्कृत म कहाँ हैं? सु अवसर जसे प्रयोग सस्कृत म होते हैं क्या? मा ने लडकी को बुलाया जस सकमक क्रिया के भाववाच्य प्रयोग सस्कृत मे कोई कर सकता हैं क्या? स्पष्ट भेद है। कही समान पद्धति भी है। परन्तु सवत्र सस्कृत के नियम हिंदी म चलाने की बात सोचना गलत है। एसी गलती अच्छी भावना से की जान पर भी गलती ही है। ऐसी ही भावना स 'स्टेशन असिस्टट' अजस्ट वण विन्यास चलाने का उदयोग हुआ था और इसी तरह आग राष्ट्रिय अन्तराष्ट्रिय जस प्रयोग लोगो ने चलाने शुरू किए थ। परन्तु हिंदी की प्रकृति ने वह सब स्वीकार नही किया। हिंदी की इस प्रकृति का विश्लेषण आचाय वाजपेयी न अच्छी तरह किया है। इसी क अनुसार उन्होंने हिंदी का परिष्कार किया आए हुए या लाए गए विकारो को हटाया यह सब आगे आप देखेंगे।

---

१ आचाय किशोरीदास वाजपेयी—लेखन कला पृष्ठ ७

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय

हिंदी में राष्ट्रीय विशेषण सर्वमान्य था चल रहा था। परन्तु सन १९३५ के इधर उधर काशी में कुछ विद्वान हिन्दी-लेखकों ने घोषित किया कि 'राष्ट्रीय' प्रयोग गलत है शुद्ध है राष्ट्रिय, क्योंकि पाणिनीय व्याकरण से 'राष्ट्रिय' बनता है राष्ट्रीय नहीं। काशी की बात सब ने मान ली। लोग लिखने लगे— राष्ट्रिय भावना का जागरण करना चाहिए। दूसरे लोग 'राष्ट्रीय' ही लिखते रहे, जो उस परिष्कार से परिचित न हुए। यों द्विविध प्रयोग चले। राष्ट्रीय को गलत समझने वाले (संस्कृत से अनभिज्ञ जन) 'प्रदेशिय' तथा 'क्षेत्रिय' जैसे प्रयोग भी करने लगे। तब आचार्य वाजपेयी को सामने आना पड़ा। वाजपेयी जी ने पूरी दृढ़ता के साथ कहा कि हिंदी में 'राष्ट्रिय' प्रयोग गलत है। वाजपेयी जी ने राष्ट्रिय विशेषण को हिन्दी में गलत बतलाया पूरी उपपत्ति के साथ। उनके कुछ तर्क लीजिए।

१—हिंदी ने सामान्य रूप से 'ईय' प्रत्यय लिया है—'दलीय' प्रान्तीय भारतीय आदि। इय को अपवाद रूप में हिंदी ने नहीं लिया है। व्यापकता और एकरूपता हिंदी को अभीष्ट है और इसीलिए ग्रन्थ विस्तरभिया स्वधिकं न प्रपञ्च्यते का अनुवाद ग्रंथ विस्तार के भय से अधिक खुलासा न किया जाएगा होगा न कि ग्रन्थ विस्तर के भय से। संस्कृत में ग्रन्थ विस्तार गलत है ग्रन्थ विस्तर शुद्ध है। परन्तु हिंदी में ग्रन्थ का विस्तार शुद्ध है, ग्रन्थ का विस्तर गलत है। यह इसीलिए कि 'विकार' विचार विभाग विराम आदि से एकरूपता अपेक्षित है। यदि संस्कृत के नियम का अनुसरण करके ग्रंथ का विस्तार चलता तो अन्य शब्दों में गडबड़ी पड़ती। राष्ट्रिय के कारण प्रदेशिय आदि शब्द चल ही पड़े। हिंदी को इस गड़बड़ी से बचाए रखने के लिए उसकी प्रकृति प्रवृत्ति पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

२—अन्य भाषाएं भी अपनी प्रकृति प्रवृत्ति पर जाती है और उन्हें कोई अपने नियम बना कर हटा नहीं सकता। संस्कृत में ही देखिए एक वैयाकरण ने अपने व्याकरण (सारस्वत) में एक प्रयोग 'पुंसु' भी बताया और कहा कि पुंसु पुंक्षु' दोनों प्रयोग साधु हैं वैकल्पिक हैं। परन्तु संस्कृत भाषा ने उनकी बात मानी नहीं पुंसु प्रयोग ही चला चल रहा है।

पाणिनि-सूत्रों से 'विश्राम' नहीं विश्रम' बनता है। परन्तु संस्कृत ने विश्राम छोड़ा नहीं बराबर चल रहा है। विश्राम संस्कृत में चलता है, परन्तु उपसर्ग हटाकर श्राम नहीं चलता। वहाँ भी श्राम का प्रयोग नहीं पाणिनि निर्दिष्ट श्रम ही चलता है। जैसे श्रम और भ्रम उसी तरह श्रम'।

इसी तरह विश्राम' की ही पद्धति पर हिन्दी ने ग्रन्थ का विस्तार ग्रहण किया और भारतीय आदि की तरह 'राष्ट्रीय'। अपवाद-स्वरूप 'राष्ट्रिय' लेकर एक बखेड़ा

खड़ा करना ठीक नहीं समझा गया।[1]

३—भाषा में विशेषणों की अपेक्षा संज्ञाएँ कुछ भिन्न रूपता ग्रहण कर लेती हैं। 'विश्वामित्र होते हैं' शब्द में, विशेषण है विश्वमित्र। परन्तु संज्ञा में 'विश्वामित्र' हो गया है। विश्वामित्र राम जी को ले गये। यहाँ 'विश्वमित्र' कर देने से अर्थ बोध न होगा, विशेष का भान न होगा। 'द्वारवती' वाला ठीक परन्तु संज्ञा है 'द्वारावती'।

इसी तरह संस्कृत में 'राष्ट्रिय' एक संज्ञा है। 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः'—राजा का साला 'राष्ट्रिय' कहलाता है। 'तु' से विशेषण ('राष्ट्रीय') का व्यावच्छेद समझा जा सकता है—राजा का साला हो, तो 'राष्ट्रिय'। अन्यत्र (विशेषण रूप से) 'राष्ट्रीय'। पाणिनि-व्याकरण से 'राष्ट्रीय' भी बन जाता है। और कोई जिद करे कि नहीं बन सकता, तो न सही। तब 'विश्राम' की ही तरह 'राष्ट्रीय' विशेषण टकसाली समझा जायगा।[2]

और, न चले संस्कृत में 'राष्ट्रीय', हिन्दी में तो वह सुप्रचलित टकसाली विशेषण है ही।

'राष्ट्रिय' की ही तरह 'राजनीतिक' हिन्दी में चलाया गया था और 'राजनैतिक' को गलत बतलाया गया था। चल पड़ा था 'राजनीतिक' और इसी निदर्शन से लोग 'इतिहासिक' आदि लिखने लगे। हिन्दी के पुराने लेखक वेंकटेश नारायण तिवारी ने तो 'सरस्वती' में लेख लिख कर कहा कि हिन्दी में दैहिक, दैविक भौतिक आदि की जगह देहिक 'देविक' भूतिक जैसे विशेषण ही लिखने चाहिए। वाजपेयी जी ने इस ववंडर को भी हटाया और हिन्दी को प्रकृतिस्थ किया।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रीय

हिन्दी में पहले (अंग्रेजी के इंटरनेशनल विशेषण की जगह) 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द चलता था—चलता आ रहा था। परन्तु जब काशी के विद्वानों ने 'राष्ट्रीय' को गलत बतला कर 'राष्ट्रिय' चलाना शुरू किया तब 'अन्तर' के साथ 'राष्ट्रिय' की (संस्कृत व्याकरण के अनुसार) संधि करके 'अन्ताराष्ट्रिय' विशेषण चलाया। डा० सम्पूर्णानन्द की एक पुस्तक का नाम है—'अन्ताराष्ट्रिय विधान'। 'राष्ट्रिय' ने तो 'प्रदेशीय' 'प्रान्तीय' जैसे गड़बड़ शब्दों की सृष्टि शुरू की थी, पर 'अन्ताराष्ट्रिय' ने सर्वार्थ—नाश का उपक्रम किया। जो लोग संस्कृत नहीं पढ़े वे कैसे समझें कि 'अन्तर' शब्द

---

१ हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ६७

२ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी मीमांसा, पृ० ६६

३ हिन्दी शब्द-मीमांसा, पृ० ६८

यहाँ अन्ता बन गया है ? हिंदी में यह संधि गृहीत नहीं है और इसीलिए 'दर्रा 'दर्रा ठर्रा' आदि शब्द दिखाई देते हैं इन के रूप 'धारा' ढारा' तथा ठारा' नहीं हुए। सस्कृत की संधियाँ सब हिंदी ने नहीं स्वीकार की हैं और इसीलिए 'जगत' एक समस्या है या रूप 'जगदेक समस्या है कभी हो नहीं सकता।

'जगत नष्ट हो गया' का रूप 'जगच्छन्न हो गया कभी भी न होगा। जगदीश आदि समास-संधि से बने बनाए सस्कृत शब्द हिंदी ने ले लिए हैं, जगत के साथ ईश' की संधि हिन्दी में नहीं की गई है। परन्तु अंतराष्ट्रिय शब्द संस्कृत-साहित्य में कहीं मिलता नहीं कि बना-बनाया हिंदी ले ले। इसलिए अन्तर शब्द की संधि वैसी हिंदी में ठीक नहीं, न 'अंताराष्ट्रीय' ही ठीक। संधि किए बिना 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द हिन्दी में चलना चाहिए यह व्यवस्था वाजपेयी जी ने दी। परन्तु आगे अंतप्रदेशिक' जैसे प्रयोग सामने आने लगे कोई सस्कृत संधि कर के अंत प्रादेशिक' लिखने लगे।

झमेला बढ़ा। हिंदी ने ऐसे झमेला से दूर रहने के लिए ही अपने निजी रूप में व्यंजनान्त शब्द नहीं रखे हैं और संस्कृत व्यंजनान्त शब्दों को भी स्वरान्त कर के ग्रहण किया है—धनुष धनुष आदि। वाजपेयी जी ने हिंदी की इसी प्रवृत्ति पर ध्यान देकर हिंदी में सस्कृत 'अन्तर शब्द को सस्वर 'अन्तर' करके 'अन्तरराष्ट्रीय अन्तरप्रान्तीय आदि शब्द रूपों का समर्थन किया।[1]

आगे वाजपेयी जी ने और ऊहापोह किया और लिखा कि संस्कृत 'अंतर' शब्द से भिन्न एक अतर स्वरान्त शब्द भी है और दोनों भिन्नार्थक हैं। अन्तर' का अर्थ भीतर (अन्दर) या 'भीतरी होता है—अंतःकरण 'अन्तजगत आदि। परन्तु अंतर भिन्नार्थक है। इसके अन्य अर्थों में एक अर्थ भी है जो समास में किसी शब्द के अन्त में आने पर प्रकट होता है—रामो देशान्तर गत राम किसी अन्य देश को चला गया। यानी अपना देश छोड़ गया। 'पुस्तकान्तरे दृष्टम—किसी दूसरी पुस्तक में देखा है। यह अन्य' या 'दूसरा' अर्थ व्यंजनान्त अंतर शब्द कभी दे नहीं सकता।

और अंग्रेजी के इंटरनेशनल जैसे शब्दों में अन्य' अर्थ इंटर का अभिप्रेत है। 'नेशनल' 'राष्ट्रीय और 'इन्टरनेशनल' अन्तर राष्ट्रीय। यानी अंतर शब्द का समास में पूर्व प्रयोग होने पर 'स्व छूटता नहीं है, उसके साथ पर का ग्रहण भी हो जाता है जब कि पर प्रयोग से 'स्व' छूट जाता है।

यह हमारा प्रादेशिक व्यवहार है।

यह प्रदेशान्तर का व्यवहार है।

---

1 हिंदी शब्द मीमांसा, पृ० ७१

यह अंतर प्रादेशिक व्यवहार है।

'अंतर भिप्रायक है 'भीतर' का अर्थ देता है। अंतर्देशीय पत्र, यानी देश के भीतर चलने वाला पत्र। जो लोग अंतर्जातीय विवाह आदि मे अंतर शब्द का अंतर' जैसा अर्थ समझे बठे थे, वे 'अन्तर्देशीय पत्र' डाकखाने से खरीद कर विदेश भेजने लगे और पसे खोकर बेवकूफ बने।

'अन्तर के गलत अर्थ म प्रयोग करने समझने का यह फल है। अब हिंदी मे अंतरराष्ट्रीय' अंतरप्रांतीय जसे शुद्ध प्रयोग हाने है परन्तु कहीं कहीं आज भी उस युग के अवशेष अवशिष्ट है। पटना (बिहार) से हिंदी दनिक आर्यावर्त निकलता है। वह आज भी 'अंतारांष्ट्रिय समाचार छापता है। सो यह आर्यावत है। भारतवर्ष है। यहाँ एक साथ आप किसी मेले पर इस बीसवीं शताब्दी के साथ साथ अठारहवी शताब्दी क दृश्य देख सकते हैं। जो चल पडा, वह फिर बहुत दिन तक चलता रहता है। शुद्धाशुद्ध विचार अलग चीज है।[1]

एकत्रित और एकत्र

'अन्तारांष्ट्रिय के साथ ही साथ विशेषण के रूप म हिंदी विद्वानो ने 'एकत्र' चलाया। तत्र' अत्र' 'सर्वत्र आदि की ही तरह एकत्र संस्कृत का साव नामिक अव्यय है अधिकरणार्थक। एकत्र राग रङ्ग अपरत्र दय चीत्कार। एक जगह राग रंग और दूसरी जगह दय चीत्कार। परंतु इस 'एकत्र शब्द को विशेषण के रूप मे (काशी के ही) विद्वानो ने चलाना शुरू किया— वहा एकत्र भीड ने पुलिस पर हमला कर दिया। यानी हिंदी में सुप्रचलित एकत्रित' विशेषण का यह शुद्धीकरण। संस्कृत मे एकत्रित नहीं बनता, इसलिए हिंदी म गलत।

वाजपेयी जी न इसका भी प्रतिकार किया और कहा कि संस्कृत मे भी 'एकत्र' विशेषण नहीं चलता। वहाँ समवेत' जसे विशेषण चलते हैं—'समवेता जना इकट्ठे लोग और समवेता जनता —इकट्ठी भीड। एकत्र का प्रयोग संस्कृत म कहीं भी विशेषण रूप मे कभी नहीं हुआ। तब हिंदी मे यह ऊधम क्यो ? इसलिए कि एक त्रित संस्कृत म बनता नहीं है ? न बने, हिंदी मे चलता है। परन्तु 'एकत्र तो संस्कृत मे भी विशेषण रूप से नहीं चलता।

वाजपेयी जी ने बतलाया कि संस्कृत का 'एकत्र' अव्यय और वहीं का इत प्रत्यय लेकर हिंदी ने अपनी चीज तयार कर ली है— एकत्रित। एकत्रित शब्द हिंदी की अपनी टकसाली चीज है और मुद्दत से चल रही है—चलती रहेगी। संस्कृत म एकत्रित' नहीं बना, इसलिए हिंदी म जो लोग इसे गलत समझते हैं, वे हिंदी का

---

१ हिंदी शब्द मीमांसा, पृ० ७१ ७६

इकट्ठा' विशेषण दें। एकत्र का विशेषण के रूप में प्रयोग सर्वथा गलत है।[1]

दम्पति दम्पती, फीट और फुट

हिंदी में 'दम्पति' शब्द चलता है, चलता आ रहा है। एक पुस्तक का नाम ही 'दम्पति विलास' है। इसी तरह 'चार फुट लम्बा साँप' जैसे प्रयोग 'फुट' से होते हैं, हो रहे थे। परन्तु ये दोनों शब्द गलत बतलाए गए। दम्पति तो सर्वथा गलत बतलाया गया, पर 'फुट' को केवल 'एक फुट' जैसे प्रयोगों में ठीक बतला कर भी यत्र सर्वत्र गलत बतलाया गया और कहा गया कि दो फुट तीन फुट आदि की जगह शुद्ध 'दो फीट' 'तीन फीट' जैसे प्रयोग करने चाहिए। डा० हरिशंकर शर्मा ने 'हिंदुस्तान' में एक लेख छपवा कर दम्पति लिखने वालों की खबर ली और 'फीट' का तो समर्थन सभी अंग्रेजी पढ़े हिंदी सेवकों ने किया।

दम्पती समर्थकों का कहना था कि संस्कृत में 'दम्पती' चलता है, दम्पति नहीं, इसलिए हिन्दी में भी 'दम्पति' शुद्ध होना चाहिए।

वाजपेयी जी ने समझाया कि हिंदी में 'दम्पति' ही शुद्ध है 'दम्पती' गलत है। संस्कृत में 'दम्पति' स्त्री पुरुष के जोड़े को कहते हैं। 'जाया' और 'पति' दम्पति। चूँकि दम्पति में 'जाया' तथा 'पति' दोनों का ग्रहण है। इसलिए वहाँ द्विवचन प्रयोग 'दम्पती' होता है—राजदम्पती समागतौ—राजा रानी आ गए। परन्तु कहीं वहाँ 'दम्पति' ही रहता है—राजदम्पतिभ्यां दत्तोऽयमुपहार—राजदम्पति का दिया हुआ यह उपहार है। यहाँ राजदम्पतीभ्याम न होगा क्योंकि प्रातिपदिक है 'दम्पति'। जैसे 'कविभ्याम' उसी तरह 'दम्पतिभ्याम'। तथा प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में 'दम्पती' चलता है जैसे 'कवी'। 'कवी समागतौ'—दो कवि आए। हिंदी में द्विवचन 'कवी' नहीं चलता और न 'दम्पति' का द्विवचन 'दम्पती' ही। जो लोग संस्कृत का वैसा पक्षपात करते हैं, उन्हें तो फिर 'कवि' का बहुवचन भी 'कवय' लिखना बोलना होगा। 'कवय यहाँ आ गए'। तब तो बढ़िया काम हो जाएगा। परन्तु यह ढाँग हिन्दी स्वीकार करेगी क्या? हिन्दी ही क्या? कोई भी भाषा ऐसा तमाशा न बनेगी। हिन्दी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में गया—चलता है, परन्तु हिन्दी की वचन पद्धति वहाँ थोड़े ही चलेगी। प्रातिपदिक मात्र ('धोती' शब्द) अंग्रेजी ने लिया है, उसका बहुवचन वहाँ 'धोतीज' होगा 'धोतियाँ' नहीं। 'ब्रिग माई धोतीज' प्रयोग अंग्रेजी में होते हैं, 'ब्रिग माई धोतियाँ' नहीं। 'कश्मीर' जैसे काश्मीरी भाषा के शब्द संस्कृत में अपनी विभक्तियों के साथ चलते हैं—यतु 'कश्म्यनोत्तम्'। कश्मीर की जगह काश्मीरी भाषा की प्रयोग पद्धति नहीं चल सकती।

---

१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० ४५

इसी तरह हिंदी ने संस्कृत प्रातिपदिक 'दम्पति' लिया है वहां का द्विवचन विन्यास नहीं लिया है। फलत हिंदी मे 'दम्पति' शुद्ध है, दम्पती' गलत।

इसी तरह 'दो फीट 'तीन फीट' को वाजपेयी जी ने गलत बतला कर 'दो फुट तीन फुट' आदि को शुद्ध बतलाया। हिंदी ने अंग्रेजी का 'फुट' शब्द लिया है, उसका बहुवचन रूप नहीं। यहां जसे 'दो हाथ लबा' उसी तरह दो फुट लबा। फुट का बहुवचन 'फीट' अंग्रेजी म चलता है, हिंदी का उससे मतलब नहीं। जो लोग 'फीट' पर फिदा हैं उन्हे फिर हिंदी म 'हमारे चारो कोट ले आओ' की जगह चारो कोटस ले आओ, लिखना बोलना होगा और तब शुद्ध हिंदी लिखने बोलने के लिए सब को अंग्रेजी पढनी होगी। तो भी हिंदी अपनी राह चलती रहेगी हमारे कोट लाओ'। अंग्रेजी वालो की हिंदी अलग हो जाएगी, जसे फारसी वालो की अलग हो गई थी। उर्दू नाम स हमारे मकानात ज्यादह खराब हो गए है--हिंदी अपनी राह पर रही 'हमारे मकान ज्यादा खराब हो गए हैं। सो फीट का समथन बबुआनी हिंदी का कुछ और नाम रख कर उसके लिए कोई भले ही करे पर हिंदी के लिए वह आदेश उपदेश व्यर्थ जाएगा।

इस विवेचन स 'दम्पती और फीट की अशुद्धि दूर हो गई।

आपकी आज्ञानुसार अपनी इच्छानुसार

या—आपके आज्ञानुसार अपने इच्छानुसार

हिंदी म प्रयोग होते हैं—आपकी आज्ञानुसार सब काम किया जाएगा कुछ काम अपनी इच्छानुसार भी करने है इत्यादि।

परन्तु काशी के विद्वानो ने सोचा कि अनुसार तो पुवर्गीय शब्द है, जसे कि विकार' विहार विचार 'विलास' आदि और 'तत्पुरुष समास म अन्तिम शब्द के अनुसार भेदक की स्थिति रहती है—आपकी स्वण घटिका कहाँ गई। भेदक तथा क्रिया का स्त्रीलिंग म प्रयोग है—आपकी' गई। इसी तरह उद्यान के सब लता पुष्प मुरझा गये म पुष्प के अनुसार उद्यान के भेदक तथा 'मुरझा गए' क्रियारूप हैं। तब शुद्ध प्रयोग होना चाहिए—आप के आज्ञानुसार अपने इच्छानुसार आदि। अनुसार पुवर्गीय शब्द है और इसलिए उसकी ही प्रधानता म भेदक तथा क्रिया म पुवर्गीयता अपेक्षित है।

काशी के विद्वानो के इस आदेश उपदेश से वसे ही प्रयोग लोग करने लगे—आपके आज्ञानुसार।

परन्तु ऐसे प्रयोग कानो को अच्छे न लगते थे, क्योंकि चलन के विरुद्ध थे। तो भी शुद्धता का ध्यान था।

तो सज्ञा है, एक वर्ण ध्वनि का नाम है और प्रयोग होते हैं—अनुस्वार लगता है यहाँ, अनुस्वार ठीक नहीं लगता इत्यादि। इसी तरह विचार अच्छा है अनुचित, विचार बुरा समझा जाता है आपका विचार गलत था, राजाओं का विलास सीमा को पार कर गया था इत्यादि प्रयोग होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि ये शब्द पु वर्गीय हैं। परन्तु अनुसार के तो वैसे प्रयोग होते नहीं क्योंकि यह सज्ञा शब्द नहीं है। 'अनुसार अच्छा है', 'अनुसार बुरा है 'अनुसार पैदा हुआ इस तरह के प्रयोग सुनने मे नहीं आए। तब यह कैसे समझ लिया गया कि यह शब्द पु वर्गीय है ?

वाजपेयी जी ने बतलाया कि हिंदी मे अनुसार शब्द का प्रयोग अव्यय-रूप मे होता है—यथाशक्ति— शक्ति के अनुसार। समास मे 'अनुसार' का पर प्रयोग होता है। 'यथादेश सब कृतम' 'आदेशानुसार सब किया गया। संस्कृत मे यथा अव्यय का पूर्व प्रयोग है और तदर्थक अनुसार का हिंदी मे पर प्रयोग है। 'यथादेशम' की तरह 'आदेशानुसार' भी अव्ययीभाव समास है। यानी 'आदेशानुसार' मे को से ने मे आदि कोई विभक्ति न लगेगी। आदेशानुसार, आज्ञानुसार इच्छानुसार आदि का प्रयोग अव्यय रूप से होता है। अव्ययीभाव है शब्दो का।

यहाँ पुवर्ग-स्त्रीवर्ग की कोई बात ही नहीं। भेदक मे पु वर्ग स्त्रीवर्ग प्रयोग पूर्व पद के अनुसार होता है— आपके आदेशानुसार और 'आपकी इच्छानुसार इत्यादि। हिंदी मे अव्ययों के साथ सदा के का प्रयोग होता है— राम के ऊपर' 'नदी के ऊपर लडका के ऊपर' लडकियो के ऊपर। इसी तरह राम के नीचे' लता के नीचे वृक्षो के नीचे इत्यादि। इसी तरह ऋषि के अनुसार ऋषियो के अनुसार मा के अनुसार 'बहनो के अनुसार आदि। समास मे भेदक पूर्व पद के अनुसार रहेगा ऋषि की आज्ञानुसार आपके आदेशानुसार। विग्रह— ऋषि की आज्ञा के अनुसार 'ऋषियो का अनुसरण अच्छा। सो ऋषि की आज्ञानुसार आदि हिंदी के टकसाली प्रयोग हैं और इनके समझाने के लिये ही व्याकरण बनेगा इन्हे उलटने पलटने के लिए नहीं। भाषा मे जो प्रयोग होते हैं उन्ही के यथास्थित रूपो का विश्लेषण-वर्णन व्याकरण है। यानी व्याकरण भाषा के शब्द प्रयोगो का 'अन्वाख्यान करता है नई भाषा नहीं बनाता। यदि हिंदी मे आप की आज्ञानुसार और अपनी इच्छानुसार जैसे प्रयोग शिष्ट-परम्परा से प्राप्त हैं और निर्बाध प्रचलित हैं तो इन्हे कोई हटा नहीं सकता इन्हे गलत बतला कर भाषा से निकाल नहीं सकता।

वाजपेयी जी के प्रत्याख्यान से उन विद्वानो का वह परिष्कार दब गया!

एम-ए० बहुत से परिष्कार लोगो ने किए भाषा मे गडबडी पैदा करने का

चेष्टा की, किसी दुर्भावना से नहीं, हिंदी को शुद्ध करने की सदिच्छा से। परन्तु वह सब भाषा की प्रकृति को पहचाने बिना ही प्रयास किया गया था। उसका प्रत्याख्यान करने में आचार्य वाजपेयी का बहुत समय लग गया। एक जगह वाजपेयी जी ने अपने बारे में कहा है—

सोचा मैंने उषःकाल में
मां का भवन सजाऊँ।
अभिनव ग्रंथ उपार्जित करके
मैं भी भेंट चढ़ाऊँ।
किन्तु भक्त पद प्रक्षेपों से
धूल यहां भर आई!
रहा बुहार उसी को तब से
यों सब उम्र गँवाई।[1]

सन् १९२५ से १९६० तक और इससे भी आगे तक यही काम वाजपेयी जी को करना पड़ा। इसका पूरा विवरण उनकी पुस्तकों में तथा पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में मिलेगा।

'गये गए' और 'गयी-गई'

इस तरह के द्विरूप शब्दों पर विचार चला। भारतीय विश्व विद्यालयों के हिंदी प्राध्यापकों की एक परिषद है 'भारतीय हिंदी परिषद'। इस का प्रधान कार्यालय प्रयाग में है। इस परिषद ने विचार करके अपना निर्णय घोषित किया कि 'गये आये' और 'गयी' 'आयी' जैसे रूप ही शुद्ध हैं क्योंकि 'गया' 'आया' के बहुवचन तथा स्त्रीवर्गीय प्रयोग हैं।[2]

स्पष्ट ही गए 'आए' तथा 'गई' आई का प्रत्याख्यान हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे पुराने साहित्य के 'गए' 'गई' जैसे सब प्रयोग गलत। आश्चर्यजनक भाषा संस्कार हुआ। इस समय गए गये और गई गयी उभयविध रूप चल रहे थे और चल रहे हैं, परन्तु परिषद ने गए—गई को हटा कर 'य' युक्त रूपों के प्रयोग को ही शुद्ध बतलाया। इस पर आचार्य वाजपेयी ने 'परिषद' वालों से पूछा कि आप—

किया का स्त्रीलिंग में 'कियी' रूप चाहते हैं क्या? इसी तरह लिया का 'लियी' दिया का 'दियी' और 'पिया' का शुद्ध रूप 'पियी' चलाना चाहते हैं क्या?[3] आया का 'आई' रूप गलत है तो 'किया' का 'की' रूप कम शुद्ध कहा जायगा?

---

१ आचार्य वाजपेयी—साहित्यिक जीवन के अनुभव संस्मरण, पृ० २५९ २६०

२ हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ३०

३ हिन्दी शब्द निर्णय पृ० १८

मक्खन को फिर मट्ठा बनाओ और 'की को 'कियी' लिखो। और फिर अवधी का क्या होगा ? अवधी साहित्य हिंदी का ही अंग समझा जाता है। 'भारतीय हिंदी परिषद' के निर्णय से तो जायसी और तुलसी का पूरा साहित्य ही गलत हो गया क्योंकि उन लोगों ने 'आवा' भूतकालिक क्रिया का बहुवचन 'आए' सर्वत्र लिखा है, जबकि परिषद के निर्णयानुसार 'व' सहित रूप 'आवे' चाहिए। तुलसी ने 'आए दोऊ भाई' लिखा है। उनकी गलती ठीक करके आप लोग 'आवे दोउ भाई' चलाएँगे क्या ? उन्होंने 'आवा' का स्त्रीवर्गीय रूप 'आई' सर्वत्र लिखा है, पर आप 'व-सहित' 'आवी' चाहते हैं। तो आपके इस व्याकरण के अनुसार अवध के लोग अपनी भाषा का सुधार करेंगे ? वे अभी 'आए आई' बोलते हैं, पर आगे उन्हें 'आवे आवी' बोलना पड़ेगा क्या ? यह व्याकरण भाषा पर हावी हो जाएगा ? सूरदास आदि सभी ब्रज भाषा कवियों ने 'आयो' का बहुवचन 'आए' और स्त्रीवर्ग में 'आई' रूप लिखा है। आप 'आयो' के 'य' को वहाँ भी लगा देंगे क्या ? या वह सब गलत घोषित करेंगे ? कुछ समझ में नहीं आता।

वाजपेयी जी ने 'आया' का बहुवचन आज भी हिंदी में 'आये आए' उभयरूप माना है और स्त्रीवर्ग में 'आयी आई'। यानी वैकल्पिक प्रयोग। दोनों शुद्ध हैं, अपनी इच्छानुसार प्रयोग। यदि 'किया' 'लिया' 'दिया' 'पिया' के स्त्रीवर्गीय रूप 'की' 'ली' 'दी' और 'पी' समझ में आ सकते हैं कि ये 'किया' आदि के स्त्रीवर्गीय रूप हैं तो फिर 'आई' भी समझ में आ जाएगा कि यह 'आया' का स्त्रीवर्गीय रूप है। अभी तक सब समझ ही रहे हैं और अब भी समझ लेते हैं। तब 'य' को चिपटाए रहने का वैसा आग्रह क्या ?

संस्कृत में भी 'हरयिह' का रूपांतर 'हरइह' शुद्ध माना गया है। 'य' का लोप होने पर 'हरइह' प्रयोग वहाँ वैकल्पिक है।

पाणिनि ने दोनों रूप शुद्ध माने हैं। तो परिषद वाले क्या पाणिनि से भी अधिक शब्दशास्त्री हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी और संस्कृत दो भाषाएँ हैं। संस्कृत का उदाहरण 'य' का क्वाचित् लोप होने भर का दिया है। अंतर यह है कि संस्कृत में 'हरे इह'= 'हरयिह' आदि की तरह एक ही पद स्थायी आदि में 'य' का लोप नहीं होता। एक ही पद में 'य' का लोप हो जाता है।

बात यह पूछी जा सकती है कि 'य' का लोप क्यों हो जाता है ? साधारण वैयाकरण यह देगा कि लोप हो जाता है यह हम देखते हैं और बता यह देते हैं पर लोप क्यों होता है यह तो भाषा से ही पूछना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है। परन्तु आचार्य वाजपेयी ने भाषा विज्ञान का निर्माण किया है। उसी आधार पर उन्होंने भाषा तथा उसके व्याकरण की संगति बढ़ाई है और इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है कि 'आई' आदि में 'य्' का लोप क्यों हो जाता है।

बात यह है कि वर्णों में स्वर प्रबल होता है और (उसके सहारे रहने वाला) व्यंजन कमजोर होता है। 'य' का तालु स्थान है और इ ई का भी तालु स्थान है। एक ही स्थान में रहने पर कमजोर 'सवर्ण' दब जाता है उसकी कोई पृथक् आवाज नहीं रहती और वह फिर लोगों की नजर में नहीं आता। आया का स्त्रीवर्गीय रूप 'आयी' हुआ, तो 'य' 'ई' से दब कर लुप्त हो गया। आया में उसकी पृथक् स्थिति है पृथक् आवाज है क्योंकि वह (य) असवर्ण स्वर (आ) के साथ है। य् का तालु स्थान है और 'आ' का कंठ है। इसलिए असवर्ण स्वर के साथ उसकी पृथक् स्थिति है, पृथक् आवाज है। तब उसका लोप कैसे हो? परन्तु आई में 'य्' है 'ई' के साथ दब गया। उसकी पृथक् आवाज नहीं। 'आयी' लिखकर किसी से उच्चारण कराओ 'आई' जैसा ही उच्चारण होगा। परन्तु समझ सब लेते हैं कि यह 'आया' क्रिया का स्त्रीवर्गीय रूप है। इसी को लोप कहते हैं—अदर्शन लोप। स्थिति हो, परन्तु प्रयत्न न हो तो लोप कहा जाता है। हुआ' में भी 'य' का लोप है—'नित्य लोप'। हुया प्रयोग नहीं होता यद्यपि उसकी सत्ता है। य' भूतकाल का प्रत्यय है। उसके बिना भूतकाल मालूम न होगा। परन्तु 'हुआ' से भूतकाल की प्रतीति होती है। यानी 'य' का अदर्शन लोप है। हुया से ही य उड़ गया तब 'हुए' 'हुई' रह ही कैसे सकता है। 'गया' की तरह ही 'हुया' की भी स्थिति है, पर उच्चारण में असौकर्य है, इसलिए लोप। पंजाबी के होया में वह बात नहीं। राजस्थानी में हुयो चलता है। आई में 'य्' की स्थिति समझ में आ जाती है तभी तो उसे लोग आया का स्त्रीवर्गीय रूप समझते हैं। इसी तरह 'हरइह' में य का लोप है। हर्यिह तथा 'हरइह' के उच्चारण में कोई अंतर नहीं है तब 'य' का लोप। इ ने य को दबा दिया। परन्तु 'विष्णविह' का रूपान्तर संस्कृत में विष्ण इह भी पाणिनि ने शुद्ध माना है। यह क्या? व का तो श्रेष्ठ स्थान है दांत के साथ। इ' का तालु स्थान है—एकदम भिन्न। इसीलिए विष्णविह' में 'व' स्पष्ट सुनाई भी देता है। तब फिर उसका वैकल्पिक रूप पाणिनि ने क्यों माना?

प्रश्न ठीक है। परन्तु भाषा पर किसी का नियन्त्रण नहीं। विष्णविह' के साथ विष्ण इह प्रयोग भी पाणिनि ने देखा तो व्याकरण में उसका निर्देश कर दिया। 'हर्यिह' का रूपान्तर हरइह देखकर विष्णविह ने वहीं अपना रूप विष्णइह कर लिया। यह संग साथ का असर है। शब्द भी एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के 'आए आई' जैसे प्रयोगों ने अवधी पर भी प्रभाव डाल दिया और वहाँ आवा के रूप आए' आई हो गए यद्यपि 'व' के लोप का कोई वैसा कारण न था। और यह लोप विकल्प से न हुआ—नित्य' हुआ। यानी अवधी में आए आई जैसे ही प्रयोग जन भाषा में तथा साहित्य में होते हैं 'आवे' आवी' नहीं। आव एकवचन विधि-सम्भावना आदि का पृथक् है। संस्कृत में विष्णविह विष्णइह दोनों रूप चलते होंगे, इसलिए पाणिनि ने वैसा व्याख्यान कर दिया।

की सी, दी, पी, आदि में सवर्ण-लोप संधि भी है। यहाँ 'य्' का लोप वैकल्पिक नहीं, नित्य है—की सी आदि में 'गाय' 'लिया' 'लियी' प्रयोग नहीं होते। नित्य लोप का कारण है 'य' का दो सवर्ण स्वरों के बीच में आ जाना। 'लिया' में 'इ' 'य' 'ई' विन्यास है। 'इ' और 'ई' के बीच में 'य' आ गया और इसलिए एकदम उड़ गया। 'य' उड़ जाने पर 'इ' 'ई' विन्यास रहा। इ और ई में सवर्ण दीर्घ एकादेश संधि होकर दोनों मिल कर 'ई' बन गए। तब का विन्यास रहा—'क् ई' 'की'। इसी तरह दी सी पी आदि।

आयी लायी रोयी सोयी आदि में 'य' दो सवर्ण स्वरों के बीच में नहीं है। 'य्' से पहले आ, ओ स्वर हैं। अन्त में ही 'इ' है। इसलिए वैकल्पिक लोप—आई आयी लाई-लायी रोई-रोयी सोई-सोयी आदि।

आए लाए रोए सोए आदि में भी वैकल्पिक लोप है। अवश्य 'ए' में 'इ' विद्यमान है जो 'य' को दिखाई देती है। अ+इ=ए होता है और इसीलिए 'आय' में 'य्' की पृथक आवाज नहीं, आय और आए के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं। फलतः यहाँ भी वैकल्पिक लोप है।

सो आए आये और आई आयी आदि उभयविध प्रयोग शुद्ध हैं। यदि आगे साहित्य में एकरूपता का ही आग्रह हो तो फिर आई आए गई गए जैसे य-लोप वाले ही रूप रहेंगे 'य्' सहित आयी आये आदि नहीं। कारण यह कि की ली दी पी, जैसे य-लोप वाले प्रयोग रहेंगे ही। तब एकरूपता कहाँ रही? यह नियम कहाँ रहा कि य सहित रूप ही लिखने चाहिए? कियी लियी कौन लिखेगा? और जिद में आकर कोई लिख भी दे तो लोग उसे स्वीकार न करेंगे। तो जब य-लोप (उसके साथ सवर्ण दीर्घ संधि) से युक्त की ली जैसे प्रयोग अनिवार्य हैं तब सर्वत्र (य्-लोप से) आए आई और गए गई प्रयोग ही रहेंगे। प्राचीन साहित्य और अवधी ब्रजभाषा आदि से एकरूपता भी बनी रहेगी।

इस तरह 'आए आई' जैसे प्रयोगों का समर्थन वाजपेयी जी ने किया परन्तु आये आयी का प्रत्याख्यान भी नहीं किया[1] क्योंकि 'य्' प्रमाणप्राप्त है 'आया' के ये रूपान्तर हैं। उभयविध प्रयोगों को ठीक बतला कर फिर लिखा है कि एक ही तरह के प्रयोग रखने हैं तो, आए आई जैसे रूप ही रहेंगे। उर्दू में भी 'य्' रहित आए आई ही चलते हैं और सब समझ लेते हैं कि 'आया' के ये भिन्न वचन वर्ग में प्रयोग हैं। हिन्दी, उर्दू, अवधी ब्रजभाषा सर्वत्र एकरूपता।

आयेगा, आवेगा, आयगा, आयगा

इन विविध रूप प्रयोगों पर 'परिषद्' ने कोई विचार नहीं किया न लतायें लताएँ पर कुछ कहा। इसी तरह एशियायी एशियाई जैसे प्रयोगों पर भी उसने कोई

1 हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० २५ ३१

निर्णय नहीं किया। चाहिये चाहिए तथा कीजिये कीजिए पर भी वह मौन रही। केवल आय आयी' पर निर्णय किया। सरल काम था 'आया' के रूप आय' 'आयी' बता देना।

परन्तु अहिन्दी भाषी हिन्दी प्रेमियों की जोरदार माग थी कि ऐसे विविधरूप प्रयोगों की जगह एक एक रूप का निश्चय निर्णय होना जरूरी है। उनकी इस माग का जवाब सक्रिय रूप से आचार्य वाजपेयी ने दिया विविधरूप (और विरूप) प्रयोगों पर कलम चलाई। निर्णय दिया कि कौन सा रूप सही है और शेष सब गलत। ऐसा निर्णय देने में उन्होंने भाषा की प्रकृति, प्रवाह, व्याकरण तथा भाषाविज्ञान का सहारा लिया। यद्यपि हिन्दी भाषी जन आयगा' 'आवेगा' आदि रूपों का वैकल्पिक स्वीकार करते हैं और अर्थ-बोध में कोई झमट नहीं आता इसलिए यहाँ सब ठीक है परन्तु अहिन्दी भाषी प्रदेशों और दूसरे देशों में गडबडी पडना स्वाभाविक है। वर्तनी (अक्षरौटी या स्पेलिंग) भिन्न होने से अर्थ भेद लोग समझ सकते हैं। इसलिए वर्तमान समय ऐसा है कि शब्द रूप (अक्षरौटी) का निर्णय हो ही जाना चाहिए।

वाजपेयी जी ने सन् १९४९ ५० में यह काम पूरा किया और अपनी 'हिन्दी मीमांसा तथा हिन्दी शब्द निर्णय आदि में सब स्पष्ट कर दिया। इन निर्णयों की पुष्टि फिर हिन्दी शब्दानुशासन के द्वारा भी की गई।

हम यहा संक्षेप में भाषा परिष्कार के इस महत्वपूर्ण अंश का उल्लेख करेंगे। पहले आयगा आवेगा आयगा आदि को ही देखिए।

सरस्वती' के सम्पादक जब प० देवीदत्त शुक्ल थे तब (उसके द्वारा) उन्होंने आयगा रूप चलाया था 'जायगा से मेल मिलाने के लिए। परन्तु वह प्रयोग आगे बढा नहीं। लोग आयगा से दूर रहे यद्यपि जायगा बराबर चल रहा है।

सो विचार करना है कि एक रूपता की माँग पर कौन सा रूप रखा जाएगा। शेष सब रूप हटा दिए जाएँ तो कारण भी बतलाना होगा।

आचार्य वाजपेयी ने बतलाया है कि—

आयगा जायगा, सोएगा जस रूप शुद्ध हैं और— आयेगा' 'आवेगा जायगा' जायेगा जावेगा गलत हैं।

इस पर उपपत्ति लीजिए। पहले एकरूपता की ही बात लीजिए। जायगा' रूप लिया जाए तो एकरूपता न आएगी क्योंकि आयगा प्रयोग होता नहीं है। चलाने पर भी चला नहीं। चल भी जाता, तो फिर 'सोयगा' रोयगा' 'लायगा' आदि बोलने लिखने का हुक्म देना पडता। फिर, वह हुक्म मानता कौन? जायगा रूप रखा जाए तो पूछा जायगा कि इसमे य् कहा से आ गया? क्या आ गया? 'जावेगा' और 'जाएगा के उच्चारण श्रवण में कोई अन्तर नहीं मालूम देता। आया'

चलन 'आये तो ठीक, 'य' परम्परा प्राप्त है परन्तु आयगा जायगा में 'य' कहाँ से आया और क्या आया ? परम्परा प्राप्त 'य' ही उड़ जाता है, अनावश्यक होने पर तब यह अप्रामाणिक 'य' कैसे और कहाँ से जायगा आयगा आदि में आ कूदा ? गलत जान पड़ता है।

'आवेगा' जावेगा में कोई उपपत्ति नहीं। ब्रजभाषा आदि में आवेगा जैसे प्रयोग ठीक क्योंकि वहाँ आव धातु है—आवगा वसंत फिरि और अब सो वसन्त तऊ अपत करीर रहै जैसे क्रिया रूप ठीक। परन्तु राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में अव धातु नहीं आ धातु है आता है क्रिया रूप। ब्रजभाषा आदि में आवत प्रयोग होता है। सो 'जावेगा' प्रयोग हिन्दी में व्याकरण विरुद्ध है। हिन्दी में 'आ' 'जा' धातुओं के आएगा 'जाएगा' जैसे प्रयोग शुद्ध और व्याकरण सम्मत हैं।

यदि आयगा जावेगा जैसे रूप प्रमाण प्राप्त होते तो 'पढ़ेगा' आदि की जगह पढ़येगा पढ़वेगा जैसे प्रयोग होते।

शुद्ध 'ए' की उपपत्ति पूरी है। संस्कृत 'पठत' का रूपान्तर 'पढ़े' है। यानी लोक भाषा ने 'ए' ग्रहण कर लिया है। व्याकरण की प्रक्रिया से देखें, तो विधि संभावना आदि का 'इय' प्रत्यय से ('य' को हटा कर) लोकभाषा ने ग्रहण कर लिया अपना प्रत्यय 'इ' बना लिया—'राम संस्कृत पढ़े, तो अच्छा'। हिन्दी की सब धातुएँ स्वरान्त हैं। पढ़+इ= पढ़े क्रिया। विधि संभावना आशीर्वाद अभिशाप आदि की क्रियाएं भविष्य देखती हैं। 'राम संस्कृत पढ़े तो अच्छा'। राम ने संस्कृत पढ़ी नहीं पढ़ भी नहीं रहा है भविष्य की चर्चा है। यदि विधि संभावना आदि न होकर शुद्ध भविष्यत् क्रिया हो तो आगे कृदंत प्रतिरूपक 'ग' प्रत्यय संज्ञा विभक्ति के साथ आ लगता है—राम संस्कृत पढ़ेगा। यदि धातु अकारान्त न होकर आकारान्त या ओकारान्त हो, तो 'इ' का रूपान्तर 'ए' हो जाता है, 'इ' का रूपान्तर संस्कृत और प्राकृत में खूब होता है।

सो, जा+इ=जाए और 'गा' लग कर जाएगा। इसी तरह आएगा सोएगा धोएगा आदि।

'इ' का रूपान्तर 'य' भी होता है और इसीलिए ब्रजभाषा में 'इ' को 'य' न होकर 'ए' रूप यहा है। या फिर जाइगो चलता है जाएगो नहीं। जावगो जरूर चलता है जो 'आव गो' के संग साथ का प्रभाव है। आव+इ= आवै। ब्रजभाषा में अ+इ=ऐ वृद्धि-संधि होती है, राष्ट्रभाषा में गुण संधि पढ़+इ= पढ़े। ब्रजभाषा में पढ़ै। राष्ट्रभाषा में सोएगा' और ब्रजभाषा में 'सोवगो'। ब्रजभाषा में सोव धातु है—सोवत रहत सदा मद माते'। सोव+इ= सोवै' सोव गो'।

सो विधि आदि में आए जाए, सोए कर, पढ़े आदि और इसी में 'ग' लगा

वर भविष्यत आएगा, जाएगा, खाएगा, करेगा, पढ़ेगा जैसी भविष्यत क्रियाएँ साफ हैं। इस तरह इन क्रियारूपों का निर्णय करके वाजपेयी जी ने एकरूपता का प्रतिपादन किया है। यह निर्णय भाषा की प्रकृति, व्याकरण तथा भाषाविज्ञान से सवलित है और हिंदी जगत ने इसे मान लिया है।

लतायें-लताएँ, बहुयें बहुएँ भुजायें भुजाएँ इन द्विरूप क्रियाओं में कौन सा रूप शुद्ध है, एकरूपता के लिए कौन सा रूप रखना चाहिए और कौन निरस्त कर देना चाहिए, इस पर विचार करके वाजपेयी जी ने लिखा है कि—

लताए, बहुएँ भुजाएँ, मालाए, शाखाएँ जसे रूप शुद्ध हैं और लतायें, बहुयें भुजायें मालायें, शाखायें जसे रूप गलत हैं। 'य' प्रमाण प्राप्त नहीं है और शेष उपपत्ति 'य्' के निराकरण में वैसी ही है जैसी कि 'जायगा' आदि के निराकरण में। स्त्रीवर्गीय प्रातिपदिक के बहुवचन में 'ॅ' विभक्ति लगती है। अकारांत प्रातिपदिक में गुण-सन्धि हो जाती है—पुस्तक+ईं=पुस्तकें और बहन+ईं=बहनें। अन्यत्र 'ईं' का रूपान्तर 'एँ' हो जाता है—लता+ईं=लताएँ और माला+ईं=मालाएँ।

'इंद्रिय' का रूप बहुवचन में 'इन्द्रियें' होता, जो चलता नहीं है—'इन्द्रियाँ' चलता है। परन्तु इकारांत ईकारांत स्त्रीवर्गीय प्रातिपदिकों के आगे ही 'ईं' का 'आँ' रूप होता है—बुद्धियाँ नदियाँ लडकियाँ आदि। 'इ' और 'ई' को 'इय्' हो जाता है, संस्कृत में भी 'इय्' (इयङ) की प्रक्रिया है—श्री, श्रिय श्रियाम आदि।

परंतु इन्द्रिय रूप तो अकारांत है तब इसका रूपान्तर 'इन्द्रियाँ' कैसे चल पड़ा?

इसका समाधान वाजपेयी जी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में दिया है कि 'इन्द्रिय' का रूपान्तर हिन्दी में 'इन्द्री' है जो एकवचन में प्रयुक्त होने पर इन्द्रिय विशेष का बोधक होता है और बहुवचन में इन्द्रिय-सामान्य का—सभी इन्द्रियों का। 'इन्द्रिय' के प्रत्यय 'य' को (सम्प्रसारण) 'इ' हो गया और सवर्ण-दीर्घ एकादेश होकर 'इन्द्री'। इसी तरह 'घृत' का रूप 'घी' बना—घृत, घिय घिइ घी'।

हिन्दी में 'इन्द्रियों पर मन का अधिकार है' 'इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं' इत्यादि प्रयोगों में यही 'इन्द्री' शब्द है।

इन्द्रिय निग्रह मनुष्यता का प्रथम चिह्न है इत्यादि प्रयोगों में संस्कृत के सामासिक शब्द बने-बनाए इन्द्रिय निग्रह आदि हिन्दी ने ले लिए हैं—ले लेती है। यह इतना प्रसंग प्राप्त।

एनियायी-एनियाई भाषायी भाषाई आदि इस तरह के द्विविध प्रयोगों में

भी एक रूपता का निर्णय वाजपेयी जी ने किया है और बतलाया है कि —

एशियाई, भाषाई महासभाई,

जैसे रूप सही हैं और य् सहित—

एशियायी, भाषायी, महासभायी

जैसे रूप गलत हैं। हिन्दी सम्बन्धबोधक 'ई' तद्धित प्रत्यय है 'यी' नहीं। 'यी' तो हिन्दी को स्वीकार ही नहीं, य् इकार ईकार में प्रमाणप्राप्त हो तो भी लुप्त हो जाता है, तब ऐसे अपने प्रत्ययों में वह क्या उसे लाएगी। यह 'ई' प्रत्यय संस्कृत के 'इन' का न्-लोप तथा रूप दीर्घ कर के है। संस्कृत में इन् से पुल्लिग में स्वाभिमानी और स्त्रीवर्ग में स्वाभिमानिनी प्रयोग होता है मान से मानी और 'मानिनी'। हिन्दी में 'तुम मानिनी मान कर बैठी' जैसे प्रयोगों में 'मानिनी' संस्कृत का तद्रूप विशेषण है। हिन्दी का अपना 'ई' प्रत्यय सर्वत्र समान रहता है—'शहरी पुरुष' 'शहरी स्त्री'। शहर संज्ञा से 'शहरी' विशेषण। इसी तरह ऊनी कंबल और ऊनी जाकेट'। 'ई' प्रत्यय आने पर अकारान्त प्रकृति व्यंजनान्त हो जाती है—अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यंजन प्रत्यय (ई) से जा मिलता है 'कानपुरी जूते' 'कानपुरी चप्पल'। परन्तु प्रकृति अकारान्त हो, तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता—स्वर लोप नहीं होता।

एशिया+ई=एशियाई और भाषा+ई=भाषाई। 'ई' प्रत्यय हिन्दी अपने शब्दों के साथ साथ दूसरी जगह से आए हुए शब्दों में भी लगाती है। सन्धि भी हो जाती है—लखनऊ+ई=लखनवी। ऊ को 'व' हो गया है। देहली+ई=देहलवी। यह 'लखनवी' का देखादेखी। 'ई' का रूपान्तर 'ऊ' और उसका रूप फिर 'व्'। साथ ही 'ल्' का स्वरान्त रूप 'ल'। 'इ' को 'उ' होते अन्यत्र भी देखा जाता है—*नौसिखिया, नौसिखुआ।* कुछ भी हो लखनवी के साथ देहलवी रूप 'ई' प्रत्यय से है। परन्तु बम्बई से 'ई' न हो कर 'इया' होता है—बम्बइया टाइप। इसी तरह कलकत्ता से 'कलकतिया टाइप'।

तात्पर्य यह कि 'एशियायी' 'भाषायी' जैसे प्रयोग एकदम गलत है। ऐसा जान पड़ता है कि 'मँगायी गयी धोती' 'धुलाई हुई धोती' जैसे प्रयोगों को देख कर लोग एशियायी जैसे प्रयोग करने लगे। परन्तु 'मँगाया' और 'धुलाया' का स्त्रीवर्गीय रूप 'मँगायी' 'धुलायी' ठीक भी है भले ही 'मगाई' 'धुलाई' भी चलें। परन्तु एशियायी आदि में 'य्' कहाँ से आ जाएगा? भ्रम या अज्ञान से, समझिए।

'धुलायी गयी धोती' 'धुलायी जा-' 'गयी' की ही तरह हमने ठीक कहा है परन्तु धोबियों को 'धुलाई' अभी देनी है यहाँ 'धुलाई' की जगह 'धुलायी' करने से

लन प्रयोग हो जाएगा। वहा 'धुलायी' विशेषण है, धुलायी कदत विशेषण का स्त्रीवर्गीय रूप। परन्तु 'धावी को धुलाई देनी है' म धुलाई कदत सना शब्द है। धोने की मजदूरी 'धुलाई'। यहा 'आई' कदन्त प्रत्यय स्त्रीवग म चलने वाला है। मँहगाई' भलाई' 'बुराई' आदि म भी 'आई' प्रत्यय है, पर तद्धित। विशेषणो से भाववाचक सज्ञाएँ हैं 'मँहगाई' आदि। है सब आइ 'ई' आदि, आयी—'ई' नही।

लीजिए, कीजिए, दीजिए, बठिए, बठाइए पढ़ाइए शुद्ध रूप हैं। इनके गलत रूप है—लीजिय, कीजिये, दीजिये बठिये वठाइय पढाइय। उपपत्ति वही 'ए' के साथ हिंदी 'य' का कभी भी न लाएगी। इए हिंदी का अपना प्रत्यय है भाववाच्य क्रिया बनाता है। अकारान्त धातु का रूप व्यजनान्त हो जाता है इए प्रत्यय आने पर और फिर व्यजन आग प्रत्यय की इ म जा मिलता है—

वठ+इए=बठिए', पढ+इए=पढिए लिख+इए=लिखिए। यहा गुण सधि नही होती, जसे कि वठ' आदि के साथ विधि' आदि क 'इ प्रत्यय ■ हो कर बठ+इ=बठे और पढ+इ=पढे रूपा मे दखी जाती है। यहा अन्त्य 'अ का लोप होता है। यह इसलिए कि 'ए' के आग दूसरा 'ए' लाना भाषा का स्वीकार नही— उच्चारण सौकय नष्ट हो जाता है। 'बठ और इए' म गुण सधि हो जाती, तो बठ +इए='बठेए' और पढ+ईए=पढ़ेए जस वेढग क्रिया रूप बनते। भाषा का रूप ही भद्दा हो जाता। इसलिए अन्त्य स्वर का लोप करक 'बठिए पढिए जसे क्रिया रूप।

ल, द जसी एकारान्त धातुओ के स्वर यथास्थल ह्रस्व हो जाते हैं यानी 'ए' का 'इ' रूप मिल जाता है—लिया दिया। सस्कृत म भी ए ओ का ह्रस्व विधान म 'इ 'उ रूप मिलते हैं। पाणिनि का सूत्र है—एच इग् ह्रस्वादेशे'। यानी 'ए' को 'इ' और 'ओ' को उ' कभी कभी होता है। 'इए प्रत्यय आने पर भी 'इ होकर अपना दीघ रूप—ली+इए और दी+इए। बीच मे 'ज' का आगम। इकार का और ज का समान स्थान है—तालु'। सवण व्यजन को बीच म आकर प्रत्यय के इ से जा मिला—'लीजिए कीजिए क्रिया रूप।

कर का रूप कि हो जाता है, यहा की। ज का आगम होकर— कीजिए'। अन्यत्र ज्यो के त्यो रूप साइए धोइए, गाइए बजाइए आदि। बठे का प्रेरणा रूप बठा बठाता है। इए प्रत्यय से बठाइए पढाइए पिलाइए जिलाइए आदि। पी लो ज का आगमन करेगी ही, ईकारान्त है 'पीजिय।

इये प्रत्यय नही है कि बठिये जैसे रूप बनें। ब्रजभाषा और अवधी आदि म—कीजिए जसे प्रयोग होते हैं—प्रविसि नगर कीजिय सब काजा। यहाँ कीजिए

सर्वेषां कृते गृहमेतत्

सब के लिए यह घर है

संस्कृत में 'सब' का रूप 'सर्वेषाम्' है, हिन्दी में 'सब के' है। बहुत्व सूचनार्थ बीच में 'ओं' का आगम होता है—'लड़कों का खेल', बहुतों का विश्वास'। परन्तु सब के आगे वह (बहुत्व-सूचक) विकरण नहीं आता। जब 'सब' कह दिया तब बहुत्व-सूचन का क्या किया जाए।

'चाहिए' अव्यय संस्कृत 'साम्प्रतम्' का अर्थ देता है—

न त्वया सत्यमपलपितुं साम्प्रतम्।

यहां साम्प्रतम्' अव्यय युज्यते' के अर्थ में है। तुम्हें सत्य का अपलाप करना योग्य नहीं—तुम्हें सत्य का अपलाप न करना चाहिए। 'युज्यते' क्रिया का अर्थ है, पर रूप वैसा नहीं है, इसलिए साम्प्रतम् अव्यय 'क्रियाप्रतिरूपक' नहीं। परन्तु हिन्दी का 'चाहिए' अव्यय क्रियाप्रतिरूपक है, तथापि 'क्रिया' नहीं है। हिन्दी में 'चाह्' धातु है, परन्तु वह इच्छार्थक है—मैं पानी पीना चाहता हूँ, मुझे थोड़ा पानी चाहिए। यहाँ 'चाहिए' भाववाच्य क्रिया है 'इए' प्रत्यय से। परन्तु 'तुम्हें ऐसा न करना चाहिए' में 'चाहिए' अव्यय है। इस अर्थ में हिन्दी की कोई धातु नहीं।

'चाहिए' अव्यय सदा एकरूप रहता है और—'हमें पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ' लिखना गलत है। शुद्ध प्रयोग है—हमें पुस्तकें पढ़नी चाहिए।

यानी अव्यय ज्यों का त्यों रख कर क्रिया पद से बहुत्व सूचित किया जाता है। वाजपेयी जी ने इसका विशद विवेचन किया है। वाजपेयी जी भी पहले बहुवचन में चाहिएँ लिखते थे परन्तु आगे चल कर उन्होंने और विचार किया, तब चाहिएँ गलत निकला। संस्कृत में एक क्रिया प्रतिरूपक अव्यय 'अस्ति' है पर उसका रूपान्तर 'सन्ति' कभी भी नहीं होता। क्रिया 'अस्ति' 'सन्ति'—जैसे रूपों में आती है।

सो क्रिया का रूप 'पढ़नी चाहिए' ठीक है, 'पढ़नी चाहिए' या 'पढ़नी चाहिएँ' नहीं। हिन्दी में किसी एक शब्द से ही बहुत्व सूचित करने की चाल है—

'लड़कियाँ गईं लड़कियाँ गईं थीं'

'गईं थीं' गलत है। चाहिए अव्यय है इसलिए 'हमें पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ' प्रयोग ठीक है।

'काल' भी क्रियान्तर से ही प्रकट होना है—हमें वेद पढ़ना चाहिए था उसे संस्कृत पढ़नी चाहिए थी' राम को कुछ अच्छे काम करने चाहिए थे, तुझे अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिए थीं यहाँ 'पढ़नी' में होगा, 'थीं' से बहुत्व प्रकट है। हमें कुल चार लड़के चाहिए, ठीक है। 'लड़के' से बहुत्व (क्रिया) सूचित हो गया।

यहां 'चाहिए' अव्यय नहीं, 'चाह्' धातु का भाववाच्य क्रिया-पद है। 'चाह'

शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगी'

और—

हमारा चरित्र ही राष्ट्रीयता की नाव बनेगा—प्रयोग सही है।

हमारा चरित्र ही राष्ट्रीयता की नाव होगी—गलत प्रयोग है।

ये सब व्याकरण की बातें हैं। वहीं से जानी जा सकती हैं। हम कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिख रहे है, हिन्दी-परिष्कार की संक्षिप्त कथा कह रहे हैं। इस तरह वाक्य विन्यास का विचार विवेचन भी भाषा परिष्कार में आता है इस लिए चर्चा कर दी।

यहाँ हमने वाजपेयी जी के कृतित्व का दिग्दर्शन मात्र दिया है। उनका पूरा कृतित्व तो उनके ग्रन्थों में ही मिलेगा।

वाजपेयी जी की लेखन कला में एक प्रकरण शब्द शुद्धि पर है। पुस्तक के रूप में शब्द शुद्धि आने का यह पहला अवसर था। फिर आचार्य रामचन्द्र वर्मा ने अच्छी हिन्दी नाम की पुस्तक शब्द शुद्धि पर लिखी। आचार्य वर्मा के ही शब्दों में—इसी बीच मुझे एक ऐसा नया क्षेत्र भी मिल गया था जिसमें मेरी यात्रा की दिशा ही बिलकुल बदल गई थी। १६११ में बाबू श्याम सुन्दर दास ने मुझे बुला कर हिन्दी शब्द सागर के कोश विभाग में स्थान दे दिया था जहाँ मैं उसके अन्त अर्थात् १६२६ तक बराबर बना रहा। इस काय में मुझे प्राय सारे हिन्दी साहित्य का और अनेक नवीन विषयों का भी अच्छी तरह अध्ययन करने का सुन्दर अवसर मिला था। इसी के फलस्वरूप मैंने हिन्दी भाषा का संस्कार करने के उद्देश्य से पहले अच्छी हिन्दी और फिर हिन्दी प्रयोग नामक पुस्तकें लिखी थीं।[१]

आचार्य वर्मा ने साहित्य साधना' शब्दार्थ मीमांसा' शब्दार्थक ज्ञान कोष' नामक पुस्तक भी लिखी हैं। आचार्य वर्मा की शब्द शुद्धि का काम स्मरणीय है।[२]

सातवाँ अध्याय

अवधी और व्रजभाषा का परिष्कार

अब हमें अवधी तथा व्रजभाषा के परिष्कार पर भी कुछ कहना आवश्यक है, क्योंकि इन भाषाओं का साहित्य भी हिन्दी का साहित्य समझा जाता है। राजस्थानी तथा मैथिली का भी साहित्य बहुत ऊँचे दर्जे का है। वह भी हिन्दी-साहित्य समझा जाता है। परन्तु अधिक 'संशोधन' अवधी और व्रजभाषा के साहित्य में ही लोगों ने किए हैं और इन्हीं में आचार्य वाजपेयी को फिर प्रतिसंस्कार' करना पड़ा है। इसी की संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जाएगी।

अवधी साहित्य में हस्तक्षेप

अवधी साहित्य में सब से ऊँचा स्थान है गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' का। अवधी ही क्या, लोग मानते हैं कि आधुनिक भारतीय जनभाषाओं के सम्पूर्ण साहित्य में 'मानस' का मान सर्वाधिक है। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है और संस्कृत तक में भी हुआ है। इस युग में जो देश ज्ञान विज्ञान में सर्वोपरि है और जो अनीश्वरवादी सिद्धान्त को मानता है उस देश (रूस) की राष्ट्रभाषा में भी 'मानस' का अनुवाद अभी पिछले दिनों में हुआ है। यह सम्मान किसी अन्य भारतीय भाषा के साहित्य को कदाचित् नहीं मिला है।

देश के साधारण किसान मजदूर के झोपड़े से लेकर राजप्रासादों तक 'मानस' की गूँज है। अपढ़ जन भी 'मानस' सुन कर आनन्द विभोर होते हैं। भाषा ऐसी कि सब अनायास समझ लेते जाते हैं और कवित्व गाम्भीर्य ऐसा कि दिग्गज विद्वान भी रस निमग्न होकर तन्मय हो जाते हैं।

'मानस' के इस अव्याहत प्रचार का एक परिणाम कुछ अनभीष्ट यह हुआ कि अत्यधिक पाठ भेद हो गए। लिपि भेद से भी पाठ-भेद हुए। 'मानस' की बहुत अधिक प्रतियाँ कैथी लिपि में लिखी गईं। नागरी लिपि में लिखी प्रतियों में कैथी में लिखी प्रतियों का पाठ भेद बहुत जगह इसलिए हो गया कि वह (कैथी) लिपि नागरी की तरह पूर्ण नहीं है। दूसरे प्रतिलिपि करने वालों की असावधानी से भी पाठ भेद हुए। रुचि भेद से जान बूझकर भी लोगों के द्वारा पाठ भेद हुए। भाषा शुद्धि आवश्यक न थी, कथा प्रवाह और रस मुख्य था। मतलब से मतलब था। शब्द से अर्थ निकल आए इतना प्रयोजन। इन सब कारणों से 'मानस' में बहुत पाठ भेद हुआ। 'पद्मावत' आदि में ऐसा पाठ-भेद नहीं हुआ। हाँ फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण वहाँ कुछ गड़बड़ी हुई यह अलग

बात है। व्रजभाषा काव्यों में भी बसा पाठ भेद कम हुआ। प्रतिलिपि करने वाले सावधान और स्वयं कवि। संस्कृत ग्रंथों में तो शायद ही कहीं कोई शब्द भेद हुआ हो। भगवद्-गीता आदि का बहुत प्रचार होने पर भी पाठ भेद नहीं हुआ। संस्कृत ग्रंथों की प्रतिलिपि पूरी सावधानी से की जाती थी। अवधी आदि लोक भाषाओं में शब्दों के शुद्धाशुद्ध होने की कोई बात ही न थी। सो मानस में बहुत पाठ भेद हुआ।

जब साहित्यिक दृष्टि से हिंदी ग्रंथों का सम्पादन होने लगा, तब एक दूसरे प्रकार की गड़बड़ी मची। अत्यधिक विचार होने लगा और उस विचार ने भी ऊधम मचाया। यहां नमूने के तौर पर ही कुछ चर्चा की जाएगी।[1]

वसिष्ठ वसिष्ठु आदि

अवधी, पाञ्चाली और व्रजभाषा में अकारान्त (पुवर्गीय) शब्दों के उकारान्त प्रयोग भी होते हैं। 'आकाश' के तद्भव रूप 'अकास' और 'अकासु' दोनों चलते हैं और 'धर्म' के 'धरम' 'धरमु'। यानी वैकल्पिक प्रयोग हैं। वाजपेयी जी ने बतलाया है कि यह 'उ' अवधी आदि में पुवर्गीय एकवचन में विकल्प से लगता है। यानी 'भात' का रूप 'भातु' होता है पर 'रात' का 'रातु' नहीं हो सकता। पुवर्ग में भी बहुवचन कभी भी उकारान्त न होगा क्योंकि वह 'एकवचन' की चीज है। 'राकसु आवा' रूप होगा पर 'राकसु आए' न होगा।

परन्तु मानस का संशोधन सम्पादन करने वालों ने इस बात पर ध्यान न दिया। सच बात तो यह है कि उन्हें 'उ' की हकीकत का पता ही न था। अटकल पच्चू सब चल रहा था। यह समझ लिया कि अवधी में 'उ' चलता है बस। सर्वत्र 'उ' का प्रयोग कर चले। आदरणीय जनों के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है पर नए संशोधित 'मानस' में 'वसिष्ठु' 'रामु' 'भरतु' 'दसरथु' जैसे प्रयोग होने लगे।

आचार्य वाजपेयी ने अपने हिंदी शब्दानुशासन के परिशिष्ट में अवधी पर भी कुछ विचार किया और वहां बतलाया कि 'वशिष्ठु' जैसे प्रयोग गलत हैं। तुलसीदास जी ने ऐसे प्रयोग कदापि न किए होंगे। आगे वाजपेयी जी ने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में और अधिक प्रकाश इस विषय पर डाला।

परन्तु सन १९६० में काशिराज ट्रस्ट की ओर से 'मानस' का सुसम्पादित काशिराज संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें तो पाठ भेद अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। 'उ' की तो बड़ी बाढ़ और 'सरजू' का 'सरऊ' रूप कर दिया गया। भाषा एकदम भिनभिनाने लगी। इस पर वाजपेयी जी का ध्यान गया क्योंकि पाठ भेद ने 'तुलसी-मानस' को विकृत कर दिया ऐसा अनुभव हुआ। इस संस्करण की आलोचना वाजपेयी जी ने आठ दस लेखों में की। उनके वे लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए।

चाहिए तो यह था कि वाजपेयी जी की इस लेखमाला का सहारा लेकर

---

१ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ५५१

'मानस' का कोई 'संस्करण' 'सभा' या सम्मेलन' द्वारा तयार कराया जाता और प्रकाशित किया जाता, पर अभी तक कोई वसा काम नहीं हुआ है। परन्तु तो भी हिंदी के विद्वान् साहित्यिक वस्तुस्थिति समझ गए हैं और वह विकृति अब आगे न बढ़ कर धीरे धीरे छँट जाएगी।

ब्रजभाषा का सुधार

ब्रजभाषा का भी सुधार नए युग में लोगों ने किया। जसे अवधी म वसिष्ठ' आदि चले उसी तरह ब्रजभाषा में 'औ' न जार मारा—आयौ, गयौ, जसौ, तसौ 'राम सौ न रूप' आदि शब्द प्रयोग सामने आए और टकमाली समझे जाने लगे। एक दोहावली' पर एक कवि को सवश्रेष्ठ पुरस्कार दिया गया जिसमे उडि गयो का रूप 'उरि गयो' किया गया है। कवि जी न समझा कि ब्रजभाषा में 'ड' की जगह र होता है, बस ! सूरदास के उडि जात जसे प्रयोग कवि जी ने गलत समझ या फिर पढ़ ही नही। ब्रज जनपद में जाकर भी कभी ब्रजवासियों के मुह से नहीं सुना—वाके तौ प्रान-पखेरू कब के उडि गए! फिर भी सुकवि जी को सवश्रेष्ठ ब्रजभाषा पुरस्कार! नाम क्या न लिया जाए ? श्री दुलारे लाल भागव के 'दुलारे दोहावली' का जिक्र है, जिसे सवश्रेष्ठ देव पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। यह पुरस्कार टीकमगढ के राजा, राजा साहब ने एक 'साहित्य परिषद' द्वारा प्रदान किया था। अखिल भारतीय पुरस्कार प्रतियोगिता मे दुलारे दोहावली' सवश्रेष्ठ नई रचना घोषित हुई थी। उसम ब्रजभाषा की स्थिति उरना' क्रिया से ही समझ लीजिए। वाजपेयी जी की प्रतिक्रिया न होती, तो पुरान कवियों के 'उडि जाते' जसे प्रयोगों का सशोधन करके 'उरि जाते जस प्रयोग सशोधित सस्करणों म दिखाई देने लगते।

ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप (ब्रज की) जनपदीय भाषा से कई अशो मे भिन्न है। यह भिन्नता परिष्कार मूलक है। जनपदीय भाषा अपने नसर्गिक रूप म चलती है पर उसके साहित्यिक रूप मे सुधार परिष्कार हो जाता है। खान मे निकली हुई चीज का परिष्कार जब होता है, तब वह कुछ निखर उठती है। ब्रज मे 'है' को ऐ तथा है को 'एँ प्राय बोलते हैं। यानी ह' का लोप हो जाता है, परन्तु ब्रजभाषा साहित्य म सदा 'है' 'हैं का ही प्रयोग हुआ है। ब्रज म प्रात काल के लिए धौताए जसी सज्ञाओ का चलन है, परन्तु साहित्य म 'प्रात सवेरे' भकारे जसी सज्ञाएँ ली गई हैं धौताएँ क कही दशन नही। ब्रज म 'गयो आयो' जसे ओकारान्त प्रयोग लोग करते हैं, परन्तु साहित्य मे सदा ओकारान्त गयो 'आयो' जसे प्रयोग हुए हैं। 'गयौ' आयौ आदि की अपेक्षा 'गयो आयो जसे प्रयोगो म मादव-माधुय है।

यह भेद न समझ कर आधुनिक कवियों ने अपनी कविता म 'गयौ आयौ

जसे ग्रोकारात प्रयोग करने शुरू किए। महाकवि रत्नाकर तक इस प्रवाह म जब ग्रा गए तब समझा गया कि सब उसी म बहग ग्रोर ग्रागे चल कर सम्पूण ब्रजभाषा साहित्य का संशोधन करके सूरदास ग्रादि क महत्व भी 'गयो' 'ग्रायो' जसे प्रयोग मढ़ देंगे।

तब ब्रजभाषा-साहित्य की मधुरिमा का विनापन करके कहा जायगा कि देखिए 'गयो' 'ग्रायो' कसे मधुर प्रयोग हैं। जो ऐसे प्रयोगों को मधुर न कहेगा वह ग्ररसिक समझा जाएगा। इस साहित्यिक विप्लव की कल्पना ग्राचाय वाजपेयी ने कर ली ग्रौर ऐसे प्रयोगों का प्रत्याख्यान किया। पत्र पत्रिकाग्रों म लेख लिखे ग्रौर फिर 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिख कर प्रकाशित कराया। सन १९४३ म यह 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हो गया। तब वसे प्रयोगों का प्रवाह रुका।

यह बात नमूने के तौर पर कही। ऐसी बहुत सी बातों पर विचार हुग्रा है। सब कुछ लिख कर इस ग्रधिनिबन्ध को 'ब्रजभाषा का व्याकरण' नहीं बनाया जा सकता।

इस तरह १९६० तक हिंदी परिष्कार का पूरा काम हो चुका तब—

कुछ संगठन सामने ग्राए

घोषणा की गई कि हिंदी शब्दा (ग्रक्षरौटी या वतनी) म एकरूपता लाने पर विचार किया जाएगा। ग्रखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ मदान म ग्राया, पर करता क्या? काम तो सब हो ही चुका था। वाजपेयी जी ने जो कुछ कर दिया था उस पर विचार किया ग्रौर उसे ज्यों का त्यों मान लिया 'ग्राए घन ग्राए घन ग्राय क उघरिगे।'

फिर भारतीय हिंदी परिषद सामने ग्राई। उसने केवल दो निणय दिए—'ग्राया ग्रादि के रूप ग्राये ग्रायी जसे लिखने चाहिए ग्रौर 'डाक्टर' जसे शुद्ध रूप में विदेशी भाषाग्रों के शब्द लिखने चाहिए 'डाक्ठर' जसे गलत नहीं।

वाजपेयी जी ने इन दोनों निणयों को विरुत्य समझा चिन्ता प्रकट की। विरुतन तो वे पहले ही कर चुके थे। चिन्ता इसलिए कि इस भारतीय विद्वत्परिषद का निणय लोग जरूर मान लेंगे ग्रौर तब 'किया' ग्रादि के बहुवचन तो 'किए' ठीक पर स्त्रीलिंग म 'कियी' जसे शुद्ध रूप चल पड़े तब क्या होगा। तब दूसरे जन्म म यह कूड़ा साफ करना होगा बड़ा कठिन काम होता है प्रवाह को मोड़ना-बदलना। प्रचलित संख्या वाचक 'छ' को हटा कर फिर से 'छह' चलाने म वाजपेयी जी को भगीरथ श्रम करना पड़ चुका था ग्रौर 'कियी' को हटाकर फिर 'की' चलाने के लिए व समय कस कहाँ से लाते। पसठ वष की ग्रवस्था म वे पहुँच चुके थे।

इसी तरह 'डाक्टर' आदि से चिन्ता हुई। बाबू बालमुकुन्द गुप्त को जैसी चिन्ता 'सभा' ने 'जरूरत' 'बाजार' आदि से हुई थी, वैसी ही इस समय वाजपेयी जी को हुई।

तुरंत 'इंजेक्शन' दिए गए और बीमारी जहाँ की तहाँ थम गई, आगे बढ़ नहीं पाई। सुप्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं ने फिर 'डाक्टर' लिखना शुरू कर दिया था। वाजपेयी जी ने अपने लेखों द्वारा 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के निर्णयों का प्रत्याख्यान तो किया ही पत्र-पत्रिकाओं में निजी पत्र लिख लिख कर 'डाक्टर' जैसे प्रयोगों का प्रत्याख्यान किया। लोग मान गये और फिर 'डाक्टर' लिखने लगे। कुछ लोग जिद में अड़े रहे, इनमें 'विश्व ज्योति' पत्रिका सब से आगे रही। यह 'डाक्टर' ही नहीं—

एम० ए०, एल० एल० बी—

की जगह

एम० ए०, एल० एल० बी०

जैसे प्रयोग करने लगी। 'एम० ए०' में 'एम०' के 'ए' पर उलटा टोप क्या और आगे के 'ए' पर क्या नहीं, यह कोई हिन्दी वाला नहीं जान सकता जो अंग्रेजी भाषा से उसके शब्दोच्चारण से परिचित न हो। हिन्दी वालों के लिए अंग्रेजी ज्ञान अनिवार्य और प्रलय पर्यन्त तक के लिए अनिवार्य। वाजपेयी जी के पास यह पत्रिका भी आती थी। सम्पादक को चिट्ठी भेजकर 'उलटे टोप' को न रखने का निर्देश वाजपेयी जी ने किया, पर वैदिक अनुसन्धान, की समर्थक पत्रिका ने उस पर ध्यान न दिया। तब वाजपेयी जी ने लिखा कि "यदि आप 'डाक्टर' आदि लिखना नहीं छोड़ते, तो आगे से मेरे पास कृपा करके 'विश्व ज्योति' न भेजिए"। पत्रिका का आना बन्द हो गया। यह प्रसंग स्वयं मुझे वाजपेयी जी ने ही बताया। और भी बहुत से संस्मरण सुनाए जो लिख दिए जाएं तो मनोरंजन के साथ-साथ हिन्दी-जगत की गति विधि का भी ज्ञान हो।

संक्षेप यह कि इस समय हिन्दी के सभी विवादास्पद शब्दों पर विचार हो चुका है।

इत्थं सर्वमवदातम्।

ग्रन्थ का परिशिष्ट

हिन्दी व्याकरण का उदभव और विकास

भाषा परिष्कार मे व्याकरण भाषा विज्ञान और (भाषा की) प्रकृति प्रवृत्ति आदि की सहायता ली जाती है। इन सब मे व्याकरण का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए यहा परिशिष्ट रूप मे हिन्दी व्याकरण के उद्भव विकास आदि की भी संक्षिप्त चर्चा करना प्रसग प्राप्त है।

जब कोई विदेशी शक्ति किसी देश म आ जाती है और वहाँ शासन करन लगती है तो उसे उस (विजित) देश का भाषा सीखनी पडती है। इसके लिए उसे कुछ एसा उद्योग करना पडता है कि जिससे लोग उस देश की भाषा सरलता स सीख ले। इसी दृष्टिकोण से पहले मुसलमान विद्वानो ने और फिर अंग्रेजो ने हिन्दी शिक्षण के लिए कुछ पुस्तक बनाइ। अपने सम्प्रदाय का प्रचार करन वालो ने भी ऐसी पुस्तक बनाइ विशेषत ईसाई मत के प्रचारको ने। जनता म किसी तत्व का प्रचार जनता की भाषा मे ही किया जा सकता है। बाहरी मुसलमाना का शासन जिस समय इस देश म आया उस समय संस्कृत ही समूचे राष्ट्र की एक साहित्यिक भाषा थी। प्राकृता का प्रभाव क्षीण हो चुका था और अपभ्र शो म वैसी शक्ति न आ पाई थी, यद्यपि एक अपभ्र श भाषा उत्तर भारत के अधिकाश क्षेत्र की साहित्यिक भाषा समझी जाती थी और समझा जाता था कि उसका काई एक रूप जनता का व्यवहार भाषा के रूप म उसी तरह व्यापक हो जस कि आजकल कलकत्ते आदि मे एक प्रकार की हिन्दी बाजार म चलती है। महापण्डित राहुल साकत्यायन और आचाय वाजपेयी[1] का मत है कि वह अपभ्र श भाषा पाञ्चाल प्रदेश की होगी, जहा कनौज स्थित ह। कन्नौज का प्रभावशाली शासन दूर तक था और शासन का बल पाकर वहाँ की भाषा दूर-दूर तक फल गइ हागी। उसी अपभ्र श म साहित्य भी बना, जो आज भी उपल ध है। उस अपभ्र श पर फिर अय प्रदेशा की अपभ्र श भाषाओ का प्रभाव यत्र-तत्र पडना स्वाभाविक ही है। परतु अपभ्र शकाल की समाप्ति पर जब आधुनिक जन भाषाओ का उदय हुआ, तो ब्रजभाषा का वसा व्यापक प्रसार हुआ और देश भर की यह साहित्यिक भाषा बन गइ। समूचे हिन्द म ब्रजभाषा का प्रसार देखकर उस समय के मुसलमान साहित्यिको ने इसी को हिन्दी नाम दिया।

साहित्य के द्वारा किसी चीज का प्रचार बहुत बढिया हाता है। इसीलिए गुरु

---

१ भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १४४

गोविन्द सिंह आदि ने एसा साहित्य व्रजभाषा मे ही लिखा, पजावी म नही, जिसका प्रचार वे देश भर म चाहते थे। व्रजभाषा का व्याकरण भी फारसी म बनाया गया जो हिन्दी व्याकरण' के नाम से ही प्रसिद्ध है। औरगजेब के शासन काल म मिरजा खाँ ने व्रजभाषा का एक एसा व्याकरण लिखा था। उस समय व्रजभाषा ही काव्य भाषा इस देश की थी और महाकवि भूषण की कविता मराठे लोग खूब सुनते समझते थे। भूषण क व्रजभाषा छन्द लोगो म बिजली दौडा देते थे। सम्भव है, उस समय यह अनुभव किया गया हो कि फारसी के द्वारा जनता को अपने पक्ष म करना सुन्दर नही है और इसीलिए व्रजभाषा की ओर मुह किया हो। यह भी हो सकता है कि मिर्जा खा जसे विद्वानो को व्रजभाषा की मिठास ने आकर्षित किया हो, क्योकि फारसी से कम मीठी व्रजभाषा नही है।

कुछ ही समय बाद सन १७१५ के आस-पास हालड निवासी जोहन जोशुआ कंटेलर नामक विद्वान ने एक हिन्दी का व्याकरण लिखा। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' मे इसका परिचय दिया है और इसे हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण बतलाया है। हिन्दी का ही एक नाम 'हिन्दुस्तानी' भी है हिन्द' और 'हिन्दुस्तानी एक ही चीज है। श्री केटेलर का यह व्याकरण हालड के लाइडन' नामक नगर म सन १७४३ म प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक थे श्री दावीद मिल या मिलिउस नामक विद्वान्।

निश्चय ही उस समय अन्य योरपीय विद्वानो न भी हिन्दी-व्याकरण लिखे छपाए होगे पर उनका अता पता नही। जिनका पता चलता है उनमे य प्रमुख है—

डा० जान बार्थविक गिलक्राइस्ट इन्होने सन १७९० ई० म हिन्दुस्तानी ग्रामर, श्री राएबक ने दि इग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी विथ ए ग्रामर प्रिफिक्स्ड सन् १८१० म लिखा छपाया। इसका व्याकरण वाला भाग फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) म पाठ्यग्रन्थ के रूप म पढाया जाता रहा। श्री टेलर महोदय इस व्याकरण को (उस समय तक बने) सभी व्याकरणो स अच्छा मानते थे।

इसके बाद—

१ येट्स का हिन्दुस्तानी ग्रामर'

२ प्लाट्स का हिन्दुस्तानी ग्रामर'

आदि हिन्दी के व्याकरण अग्रेजी म लिखे गए।

पादरी आदम साहब ने हिन्दी म ही हिन्दी व्याकरण' लिखा। इसके साथ ही डकन फोरबस का लिखा 'ए ग्रामर आफ दि हिन्दुस्तानी लग्वेज' जसे बहुत से व्याकरण प्रकट हुए। सन् १८७० म काशी क पादरी एथरिंगटन साहब ने एक व्याकरण अग्रेजी म लिखा जिसका हिन्दी रूपान्तर भाषा भास्कर का बहुत प्रचार हुआ।

सन् १८७५ का केलाग साहब का व्याकरण—

ए ग्रामर आव हिन्दी लग्वेज' प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण पिछले सभी व्याकरणों से अच्छा सिद्ध हुआ। इसकी प्रतिष्ठा अब तक वसी ही है।

हिन्दी के एक युग नायक प० लल्लू जी लाल ने भी एक व्याकरण (सन् १८१७ मे ही) लिख कर प्रकाशित कराया था—दि ग्रमेटिक प्रिंसीपल्स आव ब्रजभाषा। उस समय तक ब्रजभाषा ही देश की साहित्यिक भाषा थी हिन्दी (खडी बोली) साहित्य की ता नीव ही पड रही थी। पादरियो को साहित्य से वसा मतलब न था। वे तो जन भाषा से अपने सहयोगियो को पूर्ण परिचित कराना चाहते थे।

भारतीय विद्वानो के हिन्दी व्याकरण

व्याकरण के प्रथम चरण का उल्लेख सक्षेप से किया गया। दूसरे चरण म अपने देश के विद्वान आते हैं जिन्हाने हिन्दी व्याकरण लिखे—

महामहोपाध्याय प० सुधाकर द्विवेदी प० शीतला प्रसाद त्रिपाठी, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक बाणभट्ट प० अम्बिका दत्त व्यास प० दामादर सप्र शास्त्री प० केशवराम भट्ट प० माधव प्रसाद पाठक, प० सूय प्रसाद मिश्र आदि। य चाटी क विद्वान् थ। बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी का एक व्याकरण लिखा—एन एलीमेटरी ग्रामर आफ हिन्दी एड उर्दू।' यह सन् १९०६ की बात है। इसकी प्रस्तावना म उन्हाने लिखा—

इस व्याकरण के निमाण म मन सस्कृत व्याकरण क अनुरूप हिन्दी व्याकरण लिखने की पिष्टपेषित पद्धति का अनुसरण नही किया है। हिन्दी यद्यपि मूलत सस्कृत स ही उत्पन्न हुइ है परन्तु अब उसन इतना भिन्न और स्वतत्र रूप ग्रहण कर लिया है कि उपर्युक्त पद्धति का अनुसरण किसी भी तरह समीचीन अथवा सुरक्षित नही है। इसके अतिरिक्त आज किसी भी विद्यार्थी की शिक्षा अग्रजी भाषा क सतोषजनक ज्ञान क बिना पूण नही समझी जाती। यदि अग्रजी भाषा क व्याकरणा को आदश मान कर हिन्दी उर्दू व्याकरण की रचना की जाय तो उसस अग्रजी भाषा सीखन म भी सुविधा होगी। इसीलिए मैंने अब तक जिस सिद्धान्त पर हिन्दी उर्दू के व्याकरण बने थ उस छाड कर आधुनिक अग्रेजी व्याकरणा क निदेशा को स्वीकार किया है।

बाबू साहब न प्रस्तावना अग्रेजी म लिखी है। उसी क एक अश का यह हिन्दी-रूप है।

स्पष्ट है कि सस्कृत विद्वाना न सस्कृत-पद्धति पर जा हिन्दी व्याकरणा की परम्परा चलाइ थी उसकी पूरी प्रतिक्रिया है। जिन विद्वाना न सस्कृत पद्धति पर हिन्दी

के व्याकरण लिखे, उनकी मनःस्थिति बाबू साहब के ठीक उलटे यह समझिये कि—

'संस्कृत से हिन्दी का अच्छेद्य संबंध है, भले ही इसका उद्भव विकास प्राकृत परंपरा से हो। हमारे पुरखों की अनंत ज्ञान राशि संस्कृत में ही सुरक्षित है। हमें आवश्यकतानुसार शब्द भी संस्कृत से ही लेने होंगे। इसलिए हिन्दी का व्याकरण संस्कृत व्याकरण की पद्धति पर बनना चाहिये। ऐसे व्याकरणों से संस्कृत सीखने में भी सुविधा होगी।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यह मत प्रकट किया कि हिन्दी व्याकरण बनाने में यथावश्यक संस्कृत व्याकरण की पद्धति अपनानी चाहिये।[1]

हिन्दी व्याकरणों का तीसरा दौर बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में सामने आया और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा पं० कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण (हिन्दी कौमुदी तथा हिन्दी व्याकरण) बन कर प्रकाशित हुए। हिन्दी के इन दोनों वय्याकरणों ने बड़े परिश्रम से व्याकरण लिखे और आगे फिर इन्हीं के आधार पर छात्रोपयोगी शतशः व्याकरण लोगों ने लिखे और छपाए।

हिन्दी व्याकरण का चौथा दौर बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक से प्रायः छठे दशक तक रहा और इसमें पं० किशोरीदास वाजपेयी ने ही काम किया। सन् १९४३ में वाजपेयी जी का 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ जिसके भूमिका भाग में गुरु जी के हिन्दी व्याकरण की तक पूर्ण समीक्षा हुई। इस समीक्षा से पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की हिन्दी कौमुदी की भी समीक्षा हो गई। स्पष्ट हो गया कि हिन्दी का पूर्ण व्याकरण बनाने की भी जरूरत है। पर आगे कौन् बढ़े? 'जो बोले सो कुंडा खोले' के अनुसार पं० किशोरीदास वाजपेयी को ही सामने आना पड़ा और आपने राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण लिख कर प्रकाशित कराया। इस छोटे से व्याकरण में हिन्दी का सम्पूर्ण रूप सामने आ गया जैसे किसी छोटे से दर्पण में महान गजराज सामने आ जाता है। इसे देख कर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन मुग्ध हो गये और महान वाजपेयी जी के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग किया। इससे पहले वाजपेयी जी को कभी किसी ने इस गौरवपूर्ण पद से सम्मानित नहीं किया था। राहुल जी ने कलकत्ते के नया समाज में एक लेख 'आचार्य किशोरी दास वाजपेयी' इस शीर्षक से लिख कर छपाया।[2]

राहुल जी के लेख का सुपरिणाम तुरन्त प्रकट हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने (अपने अध्यक्ष डा० अमरनाथ झा महोदय के निर्देश निर्देश के अनुसार) आचार्य वाजपेयी को हिन्दी का एक पूर्ण व्याकरण बना देने के लिए सादर

१ श्री कृष्णलाल—हिन्दी शब्दानुशासन (प्रकाशकीय वक्तव्य)
१ नया समाज सितम्बर, १९५४

आमंत्रित किया और वाजपेयी जी की सब शर्तें स्वीकार करके एक बहुत अच्छा काम उनसे करा लिया। वाजपेयी जी ने हिंदी शब्दानुशासन लिख कर सभा को दे दिया और वह सभा द्वारा प्रकाशित हुआ।

हिंदी शब्दानुशासन हिन्दी का वह महाव्याकरण है कि जिसने सुविज्ञ शब्दशास्त्रियों को मोह लिया है, क्योंकि उससे नतन भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है और ऐसी ऐसी उपलब्धियाँ सामने आई हैं जिनकी कल्पना भी किसी ने न की थी। हिन्दी ही नहीं भारत की किसी भी जनभाषा का अभी तक ऐसा प्रौढ़ व्याकरण नहीं बना था। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने हिन्दी का अधिक्षेप करते हुए कहा था हिन्दी व्याकरण हीन भाषा है'। ऐसा कहा और पाँच बरसों के भीतर ही हिंदी शब्दानुशासन देख कर व दंग रह गए और इस की इतनी प्रशंसा की कि क्या कहा जाए। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की तो इच्छा ही पूर्ण हुई और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—

अभी तक जो हिंदी के व्याकरण लिखे गए वे व प्रयोग निर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्व दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।[1]

वाजपयी जी को स्वयं अपने विवेचन पर इतनी दृढ़ता है कि उन्होंने लिखा है इस पुस्तक में दिये सिद्धान्त प्रलय पर्यन्त बदलेंगे नहीं हिंदी के रूप का यह निर्मल दर्पण है।[2]

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस कृति को अंगद का पाँव' कह कर इसके अडिग तत्व विवेचन पर मुहर लगा दी है। इस ग्रंथ से पहले के सभी व्याकरण ग्रंथ तथा भाषा विज्ञान के हिंदी ग्रंथ प्रत्याख्यात हुए है।

॥ समाप्त ।

१ हिंदी शब्दानुशासन की भूमिका पृष्ठ २, प्रथम संस्करण
२ हिंदी शब्दानुशासन, भूमिका पृष्ठ २

इस अधिनिबन्ध के लिए पढे लिख और सहायक ग्रंथो की संक्षिप्त सूची

१—हिंदी साहित्य उदभव और विकास	डा० रामबहारी शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र
२—हिंदी साहित्य बीसवी शताब्दी	प० नंददुलारे वाजपेयी
३—आधुनिक हिंदी साहित्य	डा० कृष्ण शंकर
४—गद्यकार बालमुकुंद गुप्त और साहित्य	डा० नत्थन सिंह
५—टकसाली हिंदी	डा० सूर्यकान्त वर्मा
६—भाषा अध्ययन के आधार	डा० प्रेमनारायण टंडन
७—हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष	डा० शिवदान सिंह
८—हमारी साहित्यिक समस्यायें	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
९—हिंदी साहित्य पिछला दशक	डा० प्रेमनारायण टंडन
१०—श्रीधर पाठक तथा हिंदी का पूर्व स्वच्छंदतावादी काव्य	डा० रामचन्द्र मिश्र
११—आधुनिक हिंदी साहित्य	डा० लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय
१२—आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
१३—हिंदी साहित्य का इतिहास	प० रामचन्द्र शुक्ल
१४—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	डा० उदयभानु सिंह
१५—हिन्दी साहित्य का अतीत	डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१६—हिंदी भाषा तथा साहित्य	डा० उदयनारायण तिवारी
१७—ब्रजभाषा-व्याकरण	डा० धीरेन्द्र वर्मा
१८—भाषा विज्ञान	डा० बाबूराम सक्सेना
१९—भाषा विज्ञान	डा० मंगलदेव शास्त्री
२०—हिंदी भाषा और साहित्य	डा० श्यामसुंदर दास
२१—भारतेन्दु ग्रंथावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (हरिश्चन्द्र)
२२—प्रेम सागर	श्री लल्लूलाल जी लाल'
२३—बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ	प० भावरमल शर्मा प० बनारसी दास चतुर्वेदी

२४—भट्ट निबंधावली	पं० देवीदत्त शुक्ल पं० धनंजय भट्ट
२५—बालमुकुंद गुप्त निबंधावली	पं० भावर मल्ल शर्मा
	पं० बनारसी दास चतुर्वेदी
२६—वाग्विलास	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
२७—साहित्य सावर	,
२८—सुमन	
२९—प्रिय प्रवास	महाकवि हरिऔध
३०—हिंदी गद्य शैली का विकास	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३१—हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास	महाकवि हरिऔध
३२—भाषा और समाज	डा० रामविलास शर्मा
३३—भारत की भाषाएं और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ	डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या
३४—ए ग्रामर आफ हिंदी लग्वेज	डा० केलाग साहब
३५—हिंदी व्याकरण	पं० कामता प्रसाद गुरु
३६—हिंदी कौमुदी	पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
३७—लेखन कला	आचार्य किशोरी दास वाजपेयी
३८—अच्छी हिंदी	बाबू रामचन्द्र वर्मा
३९—अच्छी हिंदी का नमूना	पं० किशोरीदास वाजपेयी
४०—अच्छी हिंदी	
४१—शब्द साधना	बाबू रामचन्द्र वर्मा
४२—हिंदी प्रयोग	
४३—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी व्यक्तित्व-कृतित्व	डा० रामधारी सिंह दिनकर
	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४४—व्रजभाषा का व्याकरण	आचार्य किशोरीदास वाजपेयी
४५—साहित्य निर्माण	
४६—हिंदी निरुक्त	
४७—राष्ट्रभाषा का इतिहास	
४८—राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण	
४९—साहित्यकों के पत्र	
५०—आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी	

५१—हिन्दी शब्द मीमांसा — आचार्य किशोरी दास वाजपेयी
५२—हिन्दी शब्द निर्णय — ,,
५३—भारतीय भाषा विज्ञान — ,,
५४—हिन्दी शब्दानुशासन — ,,

पत्र पत्रिका

साहित्य सन्देश — (द्विवेदी अंक जुलाई, अगस्त १९६४)
नागरी प्रचारिणी पत्रिका — पुरानी प्रतियां
सम्मेलन पत्रिका — विविध अंक
भाषा — त्रैमासिक पत्रिका दिल्ली
परिषद पत्रिका — बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की त्रैमासिक पत्रिका
ब्रजभारती — ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा की पुरानी प्रतियां
राष्ट्र भारती — राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा
सरस्वती — आचार्य द्विवेदी के सम्पादन काल की प्रतियां विशेषतः
भारत मित्र (साप्ताहिक) — बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन काल की आवश्यक प्रतियाँ
कविवचन सुधा — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र